DAMAGE BOOK

UNIVERSAL LIBRARY
OU_182141
UNIVERSAL LIBRARY

भूमिका

अमृतराय की कहानियों की बुनियाद अवामदोस्ती पर रखी गई है। यह एक सचेत क्रिया है जो हमें बताती है कि अमृतराय महज़ कहानी लिखने के लिए कहानी नहीं लिखते बल्कि कहानी लिखते वक़्त उनके सामने ज़िन्दगी के और समाज के और चरित्र और वर्गों के मसले रहते हैं, उनकी टक्कर रहती है और उस टक्कर से कुछ निष्कर्ष निकलता है। इस तरह उनकी बहुत सी कहानियां पढ़ जाने के बाद मालूम होता है कि अमृतराय एक विशेष दृष्टिबिन्दु और दृष्टि रखते हैं। ज़िन्दगी और समाज के बारे में उनका एक जीवन दर्शन है जिसे वे अपनी कहानियों में लागू करते हैं। यह जीवन दर्शन उन्हें दोस्त और दुश्मन की तमीज़ करना सिखाता है। उन्हें अच्छी तरह मालूम है कि आज के समाज में कौन इन्सान की संस्कृति का, उसकी तहज़ीब का, उसकी किताबों का दुश्मन है, कौन उसका दोस्त है। अमृतराय की कहानियाँ ऐसी नहीं हैं जो ज़िन्दगी और मौत के बीच तटस्थ रहती हैं। ये तो काम करने वाली, मेहनती, पक्ष लेने वाली, पार्टिज़न कहानियाँ हैं। ये मनुष्य से प्रेम करने वाली कहानियाँ हैं, मनुष्य से दुश्मनी करने वाली कहानियां नहीं। यानी ये ऐसी कहानियाँ नहीं हैं जो सुलाती हैं, अफीम खिलाती हैं, धोखा देती हैं, मीठेपन के अन्दर ही अन्दर ख़ंजर भोंकती हैं। अमृतराय की कहानियों में वह दोग़लापन जो ज़्यादातर साहित्यिक प्रयासों में आपको मिलता है, नहीं मिलेगा। ये कहानियाँ इन्सान के दुश्मनों की दुश्मन हैं, इन्सान के दोस्तों की दोस्त। ये कहानियाँ मुतलक़ ऐसी कोशिश नहीं करतीं कि दोस्त और दुश्मन दोनों को ख़ुश किया जाय।

अमृतराय की कहानियों में एक और ख़ूबी यह भी है कि ये कहानियाँ सचमुच छोटी हैं। अमृतराय मेरी तरह कहानियाँ नहीं लिखते जो कभी

कभी तो इस क़दर लम्बी हो जाती है कि मुझे ख़ुद मालूम नहीं होता कि ये छोटी कहानियाँ है या छोटा उपन्यास। अमृतराय अपनी कला पर पूरा पूरा अधिकार रखते हैं और जानबूझ कर अपनी कहानियों का कैनवस छोटा रखते हैं ताकि वे एक कहानी में एक ही नुक्ते पर ध्यान केन्द्रित कर सकें, मेरी तरह बहुत सी बातों को एक ही कहानी में जमा करने की कोशिश नहीं करते। ऐसी कोशिश अगर कामयाब हो जाये तो क्या कहना लेकिन जब यह कोशिश नाकामयाब होती है तो इस बुरी तरह उड़ती है कि कहानी का कहीं पता नहीं चलता। अमृतराय ने अपनी कहानियों को अब तक इस दोष से मुक्त रखा है।

अमृतराय की कहानियों की ज़बान बड़ी रसीली और मीठी है। यह उनकी कहानी के चरित्रों की ज़बान है। यह जटिल, बनावटी, झूठे शिष्टाचार की पुरतकल्लुफ़ किताबी ज़बान नहीं है जिसमें बहुत से कहानीकार अपने साहित्यिक प्रयासों को पेश करते हैं और गर्व करते हैं कि उनकी फ़लां कहानी इतनी मुश्किल थी कि सारे हिन्दुस्तान में उसे सिर्फ़ दो आदमी समझ सके—एक वह ख़ुद और दूसरा उनका पब्लिशर। अमृतराय ख़ुद कहानी लेखक भी हैं और ख़ुद ही पब्लिशर भी। वे मार्क्सवादी भी हैं और अवामदोस्त भी। इसलिए इन चारों बातों के होते हुए उन्हें अच्छी तरह मालूम है कि साहित्य वही ज़िन्दा रहता है, जनता वही कहानी सुनना और पढ़ना पसन्द करती है जो उनकी रोज़मर्रा की ज़बान के नज़दीक हो। यू० पी० का घुला हुआ, रचा हुआ रोज़मर्रा का मुहावरा उर्दू और हिन्दी दोनों की मिली-जुली पूंजी है। यही पूंजी अमृतराय की ज़बान है, यही उन कहानियों की ज़बान है। ये बड़ी आसानी से समझ में आ जाती हैं और चूंकि इन कहानियों के ताने बाने में एक मक़सद भी है इसलिए वह मक़सद भी जनता तक पहुँचता है। कहानियों में कठिन भाषा का इस्तेमाल उन्हीं लेखकों को शोभा देता है जिन्हें कुछ कहना नहीं होता। औरत और मर्द की मुहब्बत का तसव्वुर इन्सान की तहज़ीबी ज़िन्दगी की एक अलामत है।

यह एक बड़ा ही खूबसूरत और पाकीज़ा शऊर है जिसे पैदा हुए ज्यादा अरसा नहीं गुज़रा। आज भी दुनिया में ऐसे खत्ते मिल जायंगे जहाँ औरत और मर्द मुहब्बत नहीं करते, जहाँ उनमें आक़ा और गुलाम का रिश्ता है, जहाँ आज भी औरत वैसे ही बिकती है जैसे घोड़ी बिकती है और अकसर घोड़ी से सस्ती बिकती है। औरत और मर्द की मुहब्बत का तसव्वुर यक़ीनन् इन्सान के लिए एक तरक्कीयाफ्ता समाज की हैसियत को जाहिर करता है और जो लोग आज औरत और मर्द की मुहब्बत और उसकी उथल पुथल के बारे में अफ़साने लिखते हैं वे हमारे मुबारकबाद के मुस्तहक़ हैं मगर अमृतराय की नज़र वर्तमान से गुज़र कर ज़रा आगे जाती है। वे मुहब्बत के उस तसव्वुर और उस मतलब को और बड़ा कर देना चाहते हैं ताकि उसमें इन्सानों की सारी बिरादरी आ जाय। वे इसी मुहब्बत के तसव्वुर को एक ऊँचे समष्टिगत स्तर पर ले जाने की कोशिश करते हैं जहाँ खूबसूरती दो आदमियों के परस्पर भाव के अन्दर ही बन्द नहीं रहती बल्कि पूरी सृष्टि को अपने अंदर समेट लेती है और इन्सानी समाज के प्रभाव क्षेत्र पर पूरी तरह छा जाती है। इसी मंज़िल पर पहुँच कर, अमृतराय के सामने ज़िन्दगी का सब से बड़ा मक़सद सिर्फ़ एक मर्द और एक औरत की मुहब्बत नहीं है बल्कि पूरे समाज की खूबसूरती है, उसकी बेहतरी है और इसलिए एक बेहतर, तरक्कीयाफ्ता, मुख्तलिफ़, खूबसूरत, इज्तमाई मुहब्बत (समष्टिगत प्रेम) का इज़हार है जो जगह जगह उनकी कहानियों में इस तरह फूटता है जैसे पानी फ़व्वारे से। अमृतराय की कहानियां इन्सान की मौजूदा तरक्की पर ही आधारित नहीं है, वे पढ़ने वाले को आगे बढ़ने के लिए भी उकसाती है, वे वर्तमान की तस्वीर ही नहीं खींचतीं, भविष्य का रास्ता भी बताती हैं।

इधर अमृतराय अपनी नयी कहानियों में नए नए प्रयोग भी कर रहे है, उनमें रिपोर्ताज और बहस का तत्व भी दाखिल कर रहे है जो दरअसल उपन्यास की चीज़ है। मगर मैं इस क़िस्म के प्रयोगों के हक़ में हूँ क्योंकि मेरा

प्रकाशक
अमृतराय
हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस
इलाहाबाद

मुद्रक
रामप्रताप त्रिपाठी
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

लिनोकट
चित्त प्रसाद

आवरण
सुप्रभात नन्दन

प्रथम संस्करण : जनवरी १९५२ : २०००
मूल्य २॥)

लाल धरती

'. . . . और हमारे यहाँ पूरब में आग लगाने की बात जब सोचना तब हमारे बड़े भाई माओ को मत भूल जाना जिसने अभी कल ही तुम्हारी गुलामी के बेड़े को ग़र्क़ करके पचास करोड़ लोगों को आज़ाद किया है . . . .'

ऐटमी सुलतान ट्रूमन के नाम

श्रीमान्, आप सचमुच श्रीमान् हैं क्योंकि दुनिया की सारी श्री बटोर-बटोर कर आप अपने तहख़ानों में भरते जा रहे हैं, यहाँ तक कि जब सारी दुनिया के आदमी भूखों मर रहे हैं आप के सुअर गेहूँ खा खा कर मोटे हो रहे हैं।

मुझे यक़ीन है कि आप मुझको नहीं जानते लेकिन यों तो आप शायद उन करोड़ों लोगों में से एक को भी नहीं जानते जिन्हें आप अपने ऐटम बम से नेस्तनाबूद करने जा रहे हैं, जिन्हें आप अपनी जंग की आग का ईंधन बनाना चाहते हैं, जिनकी जली हुई हड्डियों के ढाँचे पर आप अपनी डालर की आलीशान हवेली खड़ी करना चाहते हैं ! मुझे पूरा यक़ीन है कि जैसे आप मुझे नहीं जानते उसी तरह मेरे इन करोड़ों भाई-बहनों को भी नहीं जानते जो दुनिया के कोने-कोने में फैले हुए हैं, जो आप से और कुछ नहीं सिर्फ शांति से ज़िन्दगी बसर करने का अधिकार माँगते हैं। मगर आपको कहाँ फ़ुर्सत है कि उनकी गुहार सुनें। आपकी अपनी योजनाएँ हैं, डालर का चक्रवर्ती साम्राज्य फैलाने के अपने सपने हैं, समूची दुनिया से अपने जूते का तल्ला चटवाने की अपनी ख़्वाहिशें हैं। कोई ताज्जुब नहीं अगर अपने इन सपनों को सच करने के लिए, इन ख़्वाहिशों को पूरा करने के लिए आप बड़े से बड़े क़त्लेआम, इतिहास की बड़ी से बड़ी, तैमूरी और चंगेज़ी बरबादी और तबाही से भी बाज़ न आयें और मुझ जैसे इन्सानों को भुनगों की तरह जला कर राख कर

दें (आप यही सोचते हैं न कि जहाँ एक ऐटम बम लाखों लोगों का सफ़ाया कर देता है वहाँ एक आदमी की ज़िन्दगी भुनगे से बढ़कर है भी कहाँ ?!) . . .

लेकिन हज़रत, यह भूलने से भी काम नहीं चलेगा कि आप जिन्हें भुनगा समझ बैठे हैं उन इन्सानों की भी कोई ज़िन्दगी है जिसे वह उतना ही प्यार करते हैं जितना कोई भी आदमी ज़िन्दगी को प्यार करता है। आपके नज़दीक हमारी ज़िन्दगी का कुछ भी मोल न हो, लेकिन हमारे लिए तो वही सब से अनमोल चीज़ है।

मेरी पाँच आदमियों की गिरस्ती है। मैं हूँ, मेरी हसीन नाज़ुक सी स्त्री है जिसे मैं बेहद प्यार करता हूँ, मेरे दो नन्हें-नन्हें बच्चे हैं जिन्हें सदा खुश और तन्दुरुस्त और मुसकराता हुआ देखने के लिए मैं दुनिया की बड़ी से बड़ी दौलत निछावर कर सकता हूँ, और मेरी बुड्ढी माँ है जिसके बाल सफ़ेद हो गए हैं, जिसके चेहरे पर झुरियाँ आ गयी हैं, जो मेरी माँ है जिसने मुझे पाल पोस कर इस क़ाबिल किया है कि मैं तुमको अपना यह इरादा सुना सकूँ कि मैं इनमें से किसी के पहलू में तुम्हारे लोहे और सीसे का नश्तर नहीं चाहता, नहीं चाहता। मैं तुम्हें बतला दूँ कि तुम्हारी बारूद के धुएँ की गंध मुझे क़तई नहीं भाती। तुम अपनी शैतानी भूख मिटाने के लिए मेरे इस नन्हें से परिवार को अपने गोले-बारूद की खूराक बनाना चाहते हो। यह कभी नहीं होगा, कभी नहीं, कभी नहीं। यह मत समझना कि एक अकेला आदमी तुम्हारे मुक़ाबले में भला कैसे टिकेगा, क्योंकि मैं अकेला नहीं हूँ। मेरी तरह सभी अकेले-अकेले लोग जो अपनी नन्हीं-नन्हीं गिरस्ती की भूलभुलैयाँ में खोये हुए थे, अब एक साथ आ रहे हैं, आपस में मिल रहे हैं, एक हो रहे हैं क्योंकि इन सभी नन्हीं-नन्हीं गिरस्तियों पर तुम्हारी खूँख़ार आँख है और जब तक सभी लोग मिल कर तुम्हारी उस खूँख़ार ज़हरीली आँख को फोड़ नहीं देते,

तब तक किसी की भी वह छोटी सी दुनिया ख़तरे से ख़ाली नहीं है। इसीलिए मेरे जैसे करोड़ों छोटे-छोटे परिवार, ये छोटी-छोटी सी दुनियाएँ, एक में मिल कर एक बड़ा सा परिवार बन रही हैं जिसमें किसी एक पर भी हाथ उठाने की अगर तुमने हिम्मत की तो करोड़ों लोगों के ग़ुस्से की आग में तुम अपने ऐटम बमों के ढेर समेत जल कर राख हो जाओगे। अभी तुम्हें शायद इस बात का पूरा पता नहीं है कि इस आग में कितनी सकत है। 'पूरा पता' मैंने जान-बूझ कर कहा है क्योंकि हम, अपनी ताक़त पर भरोसा रखनेवाले मज़बूत आदमी की तरह इस बात को ख़ूब समझ रहे हैं कि इस आग की सकत का कुछ-कुछ पता तुम्हें ज़रूर है इसीलिए अपनी तमाम उछल-कूद और गीदड़भभकियों के बावजूद, बार बार अपने ऐटम बम की नुमाइश करने के बावजूद, अपने पैर के नीचे से ज़मीन खिसकती हुई महसूस करने के बावजूद, इतिहास की गति तुम्हारे ख़िलाफ़ है यह समझने के बावजूद और लड़ाई छेड़ देने की अपनी हैवानी हविस के बावजूद तुम लड़ाई छेड़ नहीं पा रहे हो। हमारी आँखों के सामने तुम्हारा करोड़ों डालर का बेड़ा चीन में ग़र्क़ हो गया है। लेकिन उसके बावजूद जब तुम कुछ नहीं कर पाये तो इसका मतलब क्या है, यह हमसे छिपा नहीं है। तुमको हम बतलायें कि इसका क्या मतलब है? इसका मतलब यही है...मगर जाने दो, क्यों फ़िज़ूल पोल खुलवाते हो जब असलियत यह है कि हर चोर और गिरहकट की तरह तुम भी अपने दिल में इस बात को अच्छी तरह समझ रहे हो कि जिसकी ज़िन्दगी, जिसका सुख और शांति चुराने के लिए यानी जिसकी गिरह काटने के लिए, जिसके फूल-से बच्चे का ख़ून करने के लिए तुम निकले हो वह आदमी जगा हुआ है और अगर तुमने अपना घिनावना, कोढ़ी हाथ ज़रा उधर को बढ़ाया तो वह तुम्हें कच्चा ही चबा जायगा।

तुम्हारा ही आदमी तो था वह जेम्स फ़ारेस्टल, तुम्हारी ही तरह अमन का दुश्मन, तुम्हारी ही तरह आदमख़ोर, तुम्हारी ही तरह सोवियत रूस, दुनिया की अमनपसन्द जनता के उस हरे भरे बाग़ सोवियत रूस का दुश्मन, तुम्हारी ही तरह डालर की शराब से मदहोश...उसने आख़िर क्यों अपने आकाशचुम्बी मकान की सत्रहवीं मंजिल से कूदकर अपनी जान दे दी? क्या इसलिए कि वह योगी हो गया था और उसे इस दुनिया से विराग हो गया था और वह परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहता था और लोग कहते हैं कि बिना मरे स्वर्ग नहीं दीखता? नहीं, डालर ही उसका परमात्मा था और उसे दूसरे के ख़ून-पसीने से इकट्ठा की हुई अपनी दौलत से, अपनी आराम और आसाइश की ज़िन्दगी से बहुत इश्क़ था। वह जीना चाहता था और अपनी सफ़ेदपोश डकैती का कारोबार जारी रखना चाहता था। तुम्हारी ही तरह वह भी था, वह शिकागो का डकैत—नये रूप-रंग का डकैत, मीठी मीठी बात बोलने वाला 'अमरीकन तर्ज़-ज़िन्दगी' का दम भरने वाला, 'व्यक्ति की स्वतन्त्रता' का राग अलापने वाला, हिटलर और गोबेल्स ही की तरह 'बोलशेविक बर्बरता' से दुनिया की रक्षा करने वाला, चमचमाता जूता और ज़र्क़ बर्क़ कपड़े पहने और टॉपहैट लगाये नयी सज-धज, 'अमरीकन तर्ज़' का डकैत! तो आख़िर उसने जान क्यों दी? मैं बताऊँ। इसलिए कि उसे सोवियत रूस का हौआ सता रहा था, इसलिए कि उसे सपने में भी स्तालिन अपनी तरफ़ बढ़ता, क़रीब से क़रीबतर होता नज़र आता था। इसीलिए इसके पहले कि स्तालिन उसकी गर्दन पकड़ कर कबूतर की गर्दन की तरह तोड़ दे उसने दो सौ फ़ीट ऊपर अपनी खिड़की से छलांग लगायी और नीचे, न्यूयार्क की पक्की पटरी पर आकर ढेर हो गया—उसकी ज़िन्दगी के उस घिनावने नाटक का वैसा ही घिनावना अन्त भी हुआ। और यही मुनासिब भी था।

यह क्यों, जेम्स फ़ारेस्टल की कहानी सुनकर तुम क्यों कांप गये ? तुम्हें शायद इस बात का डर लग रहा है कि कहीं तुम्हारा भी यही हाल न हो ! ग़लत नहीं है तुम्हारा डर। हिटलर और मुसोलिनी, गोबेल्स और रिबेनट्राप, तुम्हारे सब पूर्वजों का भी यही हाल हुआ था, और तोजो गो अपने हाथ से नहीं फाँसी पर लटककर मरा, लेकिन नतीजा तो तुम समझते ही हो कुल मिला कर उसका भी वही निकला—इसलिए अपनी बाबत सोच कर तुम्हारा डर से काँप जाना कुछ ग़लत नहीं। कुछ अजब नहीं कि तुम्हारा भी यही हाल हो। और सुनो, जेम्स फ़ारेस्टल की कहानी सुनकर जो व्यक्ति काँप रहा है वह तुम नहीं हो, वह तुम्हारे दिल का चोर है। शायद तुम्हें भी सोते जागते स्तालिन अपनी तरफ़ बढ़ता नज़र आता हो। क्योंकि स्तालिन दुनिया के अमन का पहरेदार है, इंसानियत की जगी हुई आत्मा है, दुनिया की शांतिप्रेमी जनता का पिता है और है उनके सामूहिक संकल्प की वज्रमूर्ति। स्तालिन, दुनिया को जंग की आग में झोंकने वाले आदमख़ोरों के ख़िलाफ़ जनता के न्याय की लम्बी बाँह है। यह मुनासिब ही है कि डालरी आदमख़ोरों को नींद में भी यह बाँह अपनी गर्दन की तरफ़ बढ़ती हुई नज़र आये। स्तालिन हमारे इस करोड़ों लोगों के परिवार का सर्वज्ञ पिता है जो तुम्हारी सारी चालबाज़ियों को समझता है और फ़ौरन उनकी काट करता है। स्तालिन हमारी उस नयी रंगीन दुनिया के हरे-भरे चमन का माली है जिसकी क्यारियाँ अब जगह जगह बिछने लगी हैं जिन्हें उजाड़ना ही शायद तुम्हारी ज़िंदगी का अकेला मक़सद है। रैटिलस्नेक, वह साँप भी तो तुम्हारे ही यहाँ की ख़ास चीज है जिसकी जहरीली फूँक से हरी-भरी घास जल जाती है ! मगर भूलना मत स्तालिन हमारा गरुड़ है, हमारा राजहंस......

इसलिए ट्रूमन साहब, इस बात को अच्छी तरह गाँठ बाँध लीजिए कि हम वह इक्की-दुक्की भेड़ नहीं हैं जिसे भेड़िया मज़े के साथ अकेले में कहीं पाकर फाड़ डाले। हम अमन चाहनेवाली और उसके लिए जान तक की बाज़ी लगाकर लड़नेवाली एक फ़ौज हैं जिसके करोड़ों सिपाही हैं, जिसमें रूसी भी हैं और चीनी भी, जिसमें फ्रांसीसी भी हैं और इतालवी भी, जिसमें चेक भी हैं और पोल भी, जिसमें हंगेरियन भी हैं और रूमेनियन भी और बलगार भी, जिसमें वियतनामी भी हैं और बर्मी भी, जिसमें जापानी भी हैं और हिन्दुस्तानी भी, जिसमें अंग्रेज भी हैं और आप के अमरीकी भी—यानी अमन की इस फ़ौज में सारी दुनिया के सबसे ईमानदार, सच्चे और हिम्मती लोग शामिल हैं। इस पराक्रमी सेना को देख देख कर ही अच्छे अच्छों के छक्के छूट जाते हैं, भला तुम किस खेत की मूली हो। अच्छा हो अगर तुम अपने हवाई जहाज़ में बैठ कर ही दुनिया का एक चक्कर लगा लो—तब तुम्हें पता चल जायगा कि दुनिया के कोने कोने में सिर्फ़ तुम्हारे फ़ौजी अड्डे ही नहीं बिखरे हुए हैं बल्कि अमन के ख़ातिर लड़ने और मरनेवाले लोगों के जाँबाज़ दस्ते भी बिखरे हुए हैं जो वक़्त आने पर तुम्हारे इन तमाम फ़ौजी अड्डों को जलाकर राख कर देंगे। हमारी इस फ़ौज का सेनापति हमारा पिता स्तालिन है। और हमारे यहाँ पूरब में आग लगाने की बात जब सोचना तो हमारे बड़े भाई माओ को मत भूल जाना जिसने अभी कल ही तुम्हारी ग़ुलामी के बेड़े को ग़र्क़ करके पचास करोड़ लोगों को आज़ाद किया है और तुम्हारे उस पालतू कुत्ते चियांग को उसकी माक़ूल जगह पर यानी चीन की पवित्र भूमि के बाहर भेज दिया है। अब सुना है तुम न्यूयार्क में अपने इस पालतू कुत्ते के लिए सैनेटोरियम खोलने जा रहे हो। ज़रूर खोलो, खोलना ही चाहिए, बेचारे को बहुत बेतहाशा मार पड़ी है, उसके सारे अंजर-पंजर ढीले पड़ गये हैं। इसलिए उसकी मरहम-पट्टी तो तुम ज़रूर करो, लेकिन इधर की तरफ़ रुख़ मत

करना, इधर ज़रा बिगड़ैदिल लोग रहते है जिन्हें तुम्हारा यह इतराना फूटी आँख नहीं सुहाता !

पिछली लड़ाई में साढ़े सात करोड़ लोगों का ख़ून बह चुका है और पन्द्रह करोड़ लोगों के घर तहस-नहस हो चुके है—दिमाग़ों के पर्दे खोलने के लिए महाप्रलय की यह आवृत्ति कुछ कम नहीं है और अब तो ऐटम बम से भी ज्यादा सर्वनाशी अस्त्र तैयार हो रहे हैं, जिसका सीधा सादा मतलब यह है कि अगर इस बार लड़ाई छिड़ी तो दुनिया में शायद एक भी आदमी जिन्दा नहीं बचेगा, यह सारी सृष्टि यों फ़ना हो जाएगी जैसे कभी थी ही नहीं, सभी कुछ यों मिट जायेगा जैसे कोई स्याह तख़्ते पर इबारत लिख कर उसे झाड़न से पोंछ दे...इस चीज़ का (हल्का सा ही सही) एहसास लोगों को है और लोगों को यह भी मालूम है कि किसने दुनिया के इतिहास में पहली बार ऐटम बम का इस्तेमाल किया और इस्तेमाल किया हिरोशिमा और नागासाकी के निर्दोष नागरिकों पर जो लड़ाई के मोर्चे से पचासों मील दूर थे। और लोगों को यह भी मालूम है कि कौन पूरे वक़्त ऐटम बम को हवा में उछालता रहता है, कौन उसका इजारेदार मालिक बना रहना चाहता है, कौन उसका ढेर लगाता जा रहा है, कौन उस महामारक अस्त्र को लड़ाई के हथियारख़ाने से निकाल फेंकने का विरोध करता है। इतने महँगे तजुर्बे हुए है लोगों को कि वह अब ख़ासी आसानी से जंगबाजों की शक्ल पहचान लेते हैं। यही तो तुम्हारे लिए बड़ी मुसीबत की बात हुई क्योंकि अब तुम और तुम्हारे हिंजड़े (जिन्हें तुमने सिंहासनों पर बिठाल रक्खा है!) चाहे लाख चिल्लाओ, चाहे कितनी ही क़समें खाओ, सर के बल खड़े ही क्यों न हो जाओ लेकिन अब कम ही लोग तुम्हारे चकमे में आवेंगे। मैं तुमको बतला दूँ कि लोग अब आमतौर पर इस बात को समझने लगे है कि आज की दुनिया में अमन को ख़तरा तुम्हारी ही

तरफ़ से है। लोगों की नज़रों में तुम्हीं मुजरिम हो—अब इसका कोई इलाज है तुम्हारे पास ? तुम जो दुनिया पर अपनी पूँजी और अपने फ़ौज-फाटे का जाल बिछाते जा रहे हो, हम लोग उसके साक्ष्य को सही मानें या तुम्हारी उन झूठी दग़ाबाज़ स्पीचों को जिनमें तुम और तुम्हारे ढिंढोरची तुम्हें अमन का सब से बड़ा अलमबरदार ऐलान करते हैं ? मगर इस कनस्टर पीटने से अब कुछ नहीं होने का। तुम्हीं सोच कर बताओ, तुम हमारी जगह होते तो किस चीज़ का यक़ीन करते ? क्या तुम शब्दों की रंग-बिरंगी फुलझड़ी के धोखे में आ जाते ? हरगिज़ नहीं। अमरीका की सीमा से सात हज़ार मील दूर पर तुम उस 'सीमा की हिफ़ाज़त' के लिए जगह-जगह हज़ारों फ़ौजी अड्डे बना रहे हो, यह एक ऐसी बात है जिसे सिवाय उन लोगों के जिनके सर में अक़्ल के गूदे की जगह गोबर भरा है, और कोई मान नहीं सकता। और ऐसे लोगों की आबादी अब रोज़ ब रोज़ कम होती जा रही है क्योंकि दिमाग़ों के पर्दे अगर न खुले तो घर के आँगन में बम गिरेंगे। इसीलिए अब चारों तरफ़ लोगों के दिमाग़ों के पर्दे खुलते नज़र आ रहे हैं और यही चीज़ तुम्हारी मौत का परवाना है।

और सुनो, हमारी सारी कोशिश यह है कि हम तुम्हें लड़ाई छेड़ने ही न दें, तुम्हारी सारी फ़ौजी स्कीमों को दफ़ना दें और अगर तुम भी उनके साथ दफ़न होना चाहो तो उसका भी माक़ूल इंतज़ाम कर दें। लेकिन फ़र्ज़ करो तुम्हारी जंग की साज़िश वक़्ती तौर पर कामयाब हो जाती है। तो ज़रा तुम मुझे यह तो बतलाओ कौन लड़ेगा तुम्हारी लड़ाई—

नीग्रो ? जिन्हें तुम आदमी भी नहीं समझते, जिन्हें तुम अपने कुत्तों से भी ज्यादा ज़लील समझते हो, जिनकी जान लेना तुम्हारे लिए एक खिलवाड़ है ?

अमरीका के सफ़ेद चमड़ी के मज़दूर? जो डेढ़ करोड़ की संख्या में बेकार लुढ़कते फिर रहे हैं, जिनकी रोटी का ठिकाना नहीं है, तुम जिन्हें काम भी नहीं दे सकते, जो भूखों मरने पर या तुम्हारी ख़ैरात के चन्द ज़लील टुकड़ों पर ज़िन्दगी बसर करने को मजबूर हैं?

फ्रांस का मज़दूर?

इटली का किसान?

पश्चिमी जर्मनी का मज़दूर? जिन्हें तुमने अपनी मौत की गिरफ़्त में ले रखा है, जिनकी तरक़्क़ी के रास्ते तुम्हारी मार्शल योजना ने रूँध दिये हैं, जिन्हें तुमने एक नयी ग़ुलामी में जकड़ लिया है, जिनकी बहनों और लड़कियों को तुम्हारे सिपाही दिनदहाड़े ख़राब करते हैं?

क्यों लड़ेंगे वह तुम्हारे लिए? उन्हें तो मालूम है कि आज़ादी किस चीज़ का नाम है, उन्हें तो उस चीज़ की लज़्ज़त मालूम है, तब भला उन्हें कैसे क़बूल होगी यह कड़वी घूंट जो तुम उन्हें पिला रहे हो? उन्होंने तो अपनी आज़ादी और बेहतरी के लिए अपने बादशाहों के सिर उड़ा दिये हैं, तब भला वह तुम्हारी शक्ल में एक नये और मनहूस शाहंशाह को क्यों क़बूल करेंगे? तुम्हें शायद हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का बहुत भरोसा है क्योंकि तुम समझते हो कुछ लीडरों की नकेल तुम्हारे हाथ में है। लेकिन उतना काफ़ी है क्या? लीडर तो हर जगह तुम्हारी चिलम भरते हैं, मगर उससे क्या बात बनती है। राइफ़ल उठाने के लिए, तोप चलाने के लिए, हवाई जहाज़ चलाने के लिए, ख़ून बहाने के लिए तो तुम हमीं लोगों को कहोगे न? बड़े कोढ़मग़ज़ हो सचमुच अगर तुम यह समझते हो कि सोवियत रूस और लाल चीन पर हथियार उठाने के लिए अब तुम्हें बराबर बड़ी आसानी से आदमी मिलते रहेंगे। यों शर्म से हमारा सर झुक जाता है जब हम यह ख़याल करते हैं कि हमारे हिन्दुस्तानी भाई,

गुरखे और सिख किसान और मेहनतकश मलय के अपने भाइयों पर गोली चला रहे हैं। उन लोगों पर तो इसकी लानत है ही जो अपने आपको आज़ादी का पैग़म्बर कहते हुए पड़ोसी मलय और बर्मा और वियतनाम और इंडोनेशिया में आज़ादी के दुश्मनों का साथ दे रहे हैं, आज़ादी के लड़ाकों की गर्दन मारने में साम्राजी बूचड़ों का हाथ बँटा रहे हैं--मगर इसकी लानत हम पर भी है, कि हमारे सामने यह चीज़ हो रही है और हम कुछ कर नहीं पा रहे हैं। यह हमारी कमज़ोरी का सबूत है और शायद हमारी इसी कमज़ोरी का तुम्हें बहुत आसरा है।

मगर घबराओ मत, हम हिन्दुस्तानी भी आज़ादी की क़ीमत समझते हैं गो ख़ुद हमारी आज़ादी लीडरान ने तुम्हारे हाथ बेच दी है। पर शायद इसीलिए आज़ादी का मोल हम और भी समझने लगे हैं। धीरे धीरे ही सही लेकिन हवा का रुख़ यहाँ भी बदल रहा है और कोई नहीं कह सकता कि हवा की यह हलकी सी धारा कब और कितनी जल्दी एक तूफ़ान का रूप ले लेगी। बस इतना तुम अच्छी तरह जान लो कि दुनिया में अब ऐसा एक भी, पिछड़ा से पिछड़ा देश भी नहीं मिलेगा जहाँ से सोवियत रूस और लाल चीन के ख़िलाफ़ हमला आसानी से किया जा सके या इस घिनावने काम के लिए रंगरूट आसानी से भर्ती किये जा सकें।

जंगबाज़ों की थैलियाँ भरने के लिए हम लोग अपना ख़ून काफ़ी बहा चुके। अब अपनी आज़ादी और अपने अमन की हिफ़ाज़त की ख़ातिर ख़ून बहाने का वक़्त आया है तो हम पीछे हटने वाले नहीं हैं। हमारी यह आज़ादी और अमन की लड़ाई आगे बढ़ते बढ़ते उसी तरह तुम्हारा गला घोंट देगी जैसे लाल फ़ौज ने आगे बढ़ कर ख़ास बर्लिन में हिटलर का गला घोंट दिया था। उस लाल फ़ौज में भी स्तालिन ही का लोहा था और अमन की इस नयी सुर्ख़रू फ़ौज में भी स्तालिन ही का लोहा है। यह फ़ौज

तो नये हिटलरों को और भी आसानी से जहन्नुम का रास्ता दिखा सकेगी क्योंकि यह फ़ौज और भी बड़ी है, बहुत बड़ी, और उसे आगे ढकेलनेवाली अणुशक्ति है साधारण शान्तिप्रेमी जनता का जंगबाज़ों के खिलाफ़ भयानक ग़ुस्सा। इस अणुशक्ति के आगे अणुबम भला टिकेगा? अणुबम का नाश करने के लिए जनता की यह अणुशक्ति अब मैदान में उतर आयी है। उसने ऐलान कर दिया है कि अणुबम जैसे कायर और कुत्सित पर सर्वनाशी अस्त्र पर रोक लगायी जाये और जो भी राष्ट्र सबसे पहले उस का इस्तेमाल करे उसे इन्सानियत का दुश्मन क़रार दिया जाय और उसके साथ वैसा ही सलूक किया जाय।

हम मानते हैं, यह बहुत ख़तरे की बात है कि बनमानुषों के हाथ में, आदमख़ोर दरिन्दों के हाथ में अणुबम हो, लेकिन जंगबाज़ो, ज़रा झुक कर तो देखो तुम बैठे कहाँ पर हो, ख़ुद अपने अणुबमों के ढेर पर और तुम्हें इसकी ख़बर ही नहीं और जब कि पलीते के इस छोर में आग भी लग चुकी है और दूसरा छोर तुम्हारे उसी ढेर की जड़ में दफ़न है!

'वह इतिहास-पुरुष है जो कोरिया में कोरियनों की वर्दी पहन लेता है, चीन में चीनियों की, वियेतनाम में वियेतनामियों की. . . .मगर है वह एक ही और कोई उसे रोक नहीं सकता क्योंकि वह इतिहास-पुरुष है और नये सूरज के रथ पर सवार है और कोई उसे क्रान्ति कहकर पुकारता है. . .'

कोरिया का नया भूगोल

प्यारे बच्चो, आज मैं तुम्हें कोरिया का नया भूगोल पढ़ाने आया हूँ। मैं समझता हूँ कि तुम लोग कोरिया की बाबत जानने को बहुत उत्सुक होगे।

बच्चो, कोरिया भारत के सुदूर पूर्व का, यानी वहाँ का जहाँ से रोज़ सूरज निकलता है, एक प्रायद्वीप है। प्रायद्वीप का मतलब यह होता है बच्चो, कि उसके तीन ओर पानी है और एक ओर धरती। उसके तीन ओर जो पानी है उसका नाम प्रशान्त महासागर है। प्रशान्त महासागर दुनिया का सबसे गहरा इसीलिए सबसे प्रशान्त समुद्र है। लेकिन वह बात अब पुरानी पड़ गयी है। इधर नौ बरसों से प्रशान्त महासागर पर समुद्री बेड़े दौड़ते हैं! कई बरस से यही सिलसिला चालू है। इधर फ़र्क़ सिर्फ़ इतना हुआ है कि जहाँ पहले जापान के सूर्यवंशी राजा हिरोहितो के बेड़े दौड़ते थे वहाँ अब ट्रूमन और मैकआर्थर के बेड़े दौड़ते हैं। बच्चो, यह परिवर्तन तभी से हुआ जब से तुम्हारी साइकिल की सीट पर और तुम्हारी छोटी मुन्नी की गटापार्चा की गुड़िया पर 'मेड इन जापान' की जगह 'मेड इन आकुपायड जापान' लिखा रहने लगा। और बच्चो, यह चीज़ पहली बार उस दिन हुई जिस दिन मैकआर्थर जापान के राजसिंहासन पर बैठा और सूर्यवंशी हिरोहितो को गद्दी से उतारकर, दरबार की शोभा बढ़ाने के हेतु जापानी गुड्डा बना दिया गया और उसकी डोर मैकआर्थर के बाँये हाथ में पकड़ा दी गयी। उसी ऐतिहासिक दिन से तुम्हारी साइकिल की सीट पर वह नया ठप्पा पड़ने लगा और हिरोहितो नाम का

बबुआ मैकआर्थर की उँगली के इशारे पर तरह-तरह के नाच और करतब दिखलाता हुआ दरबार के कौतुक का विषय बना।

मगर बच्चो, यह मैं कहाँ से कहाँ बहक गया। मैं तो तुम्हें भूगोल पढ़ाने आया हूँ। अभी मैंने तुमको यह बतलाया था कि कोरिया एक प्रायद्वीप है जिसके तीन ओर गहरा नीला पानी है जिसका नाम प्रशान्त महासागर है जिसकी छाती पर अब अमरीकी जहाज़ हल की तरह चला करते हैं ताकि बरसाती घास की तरह मौत की फ़सल उगे। वह हवा जो प्रशान्त के हृदय को छूती है, उसके अंदर लहरें उठाती है, उसमें गैसोलीन की बदबू और हिरोशिमा व नागासाकी के दुधमुँहे बच्चों की चीख़ें घुली हुई हैं। उन्होंने प्रशान्त के बूढ़े हृदय को क्षब्ध कर दिया है क्योंकि बच्चे अब भी पैदा हो रहे हैं और पार्कों में खेल रहे हैं और वहाँ दूर देश अमरीका में, उन्हीं लिंकन और वाशिंगटन के देश में जिन्हें बच्चों से बहुत प्यार था, ऐटमबमों का ढेर लगाया जा रहा है और हवाई जहाज़ आसमान में मौत के बादलों की तरह गड़गड़ा रहे हैं... बच्चो, बूढ़ा प्रशान्त अब अंदर-बाहर कहीं से रत्ती भर प्रशान्त नहीं है, वह है व्यस्त क्षुब्ध कुपित..

मगर यह देखो मैं फिर बहक गया; पर मेरा खयाल है बच्चो, अब तुम्हारी समझ में आ गया होगा कि कोरिया हमारे देश के पूर्व बहुत दूर पर एक प्रायद्वीप है जिसके तीन ओर पानी है और एक ओर धरती। पानी के बारे में तुम्हें सब कुछ मालूम ही है। अब सुनो यह जो धरती है उसका रंग लाल है। कोरिया के पच्छिम में जो चीन देश है उसका भी रंग लाल है और उत्तर-पच्छिम में जो सोवियत देश है उसका भी रंग लाल है। मोरम की तरह का लाल नहीं, ख़ून की तरह का लाल क्योंकि वह ख़ून का ही रंग है जो कि वहाँ के बहादुर लड़कों-लड़कियों ने और जवानों ने बहाया था और जो कि वहाँ की धरती में अब वैसे ही रच गया है जैसे मेंहदी हाथ में

रच जाती है। उस धरती को लाल किया है चियाङ ने वैसे ही जैसे दक्खिनी कोरिया को लाल किया है सिंगमन री ने !

बच्चो, कोरिया पहले एक देश था, तभी से उसका एक नाम है कोरिया। मगर जब से उस पर डालर का साया पड़ा है तबसे एक कोरिया में दो कोरिया हो गये हैं, एक का नाम है दक्खिनी कोरिया और दूसरे का नाम है उत्तरी कोरिया। दोनों को अलग करनेवाली चीज है ३८ अक्षांश, थर्टी-एर्थ पैरेलेल. . .मगर बच्चो, मैं एक गलती कर गया। ३८ अक्षांश दक्खिनी कोरिया को उत्तरी कोरिया से अलग नहीं करता, वह मुर्दा अतीत को अलग करता है अनागत भविष्य से, वह पुरानी सामन्ती दुनिया को अलग करता है नयी समाजवादी दुनिया से यानी वह रात को अलग करता है दिन से, दिन की रोशनी से और दिन की लपट से ! जिस दिन से बच्चो, कोरिया के इस दक्खिनी टुकड़े पर अमरीकी साया पड़ा उस दिन से वहाँ पर मुस्तक़िल रात छा गयी जिसमें कहीं रोशनी न थी, सिवाय उन ज्योतिष्क आत्माओं की ज़िन्दगी के जो सिंगमन री की फ़ायरिंग स्क्वाड का मुक़ाबला करते समय और दुगने-चौगुने प्रकाश से बल उठती थी। ३८ अक्षांश के उस पार रोशनी थी, इस पार अँधेरा था। उस पार ऊँचे क़दावर सुनहरे खेत यों मस्ती से खड़े थे जैसे उन्होंने जाम चढ़ा लिया हो, इस पार बौने बुच्चे मटीले से, लानत के मारे पौदे शर्माये हुए उकताये हुए से खड़े थे, यों जैसे अभी इसी वक़्त ढेर हो जायेंगे। उस पार लोगों के चेहरों पर ताज़गी थी, श्रम का आह्लाद था इस पार लोगों के थके हुए पिसे हुए चेहरों पर वह नहूसत बरस रही थी कि जैसे मक्खियाँ भिनक रही हों, कि जैसे काम से बड़ी लानत दूसरी न हो, क्योंकि इस काम का सारा नफ़ा एक मगरमच्छ थैलीशाह हड़प जाता है। उस पार लोगों के गले गाने गा रहे थे, इस पार उनके मुंह पर एक मन का ताला लटक

रहा था और गले में ख़ौफ़ के मारे काँटे पड़े हुए थे। उस पार लोग अपने सरों पर नाज़ुक शाख़ों का साया पाते थे, इस पार उन्हें अपनी गर्दन पर मैकआर्थर की तलवार लटकती नज़र आती थी। ३८ अक्षांश पर सरहदें मिलती थीं आज़ादी और ग़ुलामी की, ज़िन्दगी और मौत की, स्वर्ग और नरक की...

बच्चो, जब से एक का दो कोरिया बनाया गया तभी से यह नक़्शा सामने आया वर्ना पहले बेचारे अच्छी-भली ज़िन्दगी बसर करते थे, स्वतंत्र थे, एक थे, अपना पंचायती राज उन्होंने बना ही लिया था। अभी थोड़े ही दिन हुए थे मगर जब से बड़ी बड़ी मूँछों वाले स्तालिन बाबा ने उन्हें हिरोहितो के हैवानी चंगुल से मुक्त किया तब से उनका यही रंग चल रहा था। इधर ट्रूमन साहब को यह बात फूटी आँख नहीं सुहाती थी। उनको ज़रूरत थी उपनिवेश की, फ़ौजी अड्डे की, जहाँ से वह लाल चीन पर, लाल रूस पर यानी नयी दुनिया पर हमला कर सकें। बस फिर क्या था उन्होंने अपनी फ़ौजें उतार दीं। उनका काम आसान बनाने के लिए उन्हें यहाँ भी चियाङ का एक भाई मिल गया, सिंगमन री, जो सूरत-शकल, सजधज और चँदुली खोपड़ी हर बात में चियाङ का सगा भाई था। और चियाङ ही की तरह उसके भी जल्लाद हाथों से बहादुर देशभक्तों का लहू टपक रहा था। तभी से बच्चो, ट्रूमन ने ३८ अक्षांश पर वह रेखा खींच दी जिसमें रोशनी और आज़ाद ज़िन्दगी की तेज़ धारा उसके क़ैदी कोरियनों को भी अपने संग बहा न ले जाय। बच्चो, इसे कोई चाहे भूगोल कहे चाहे इतिहास, मगर ३८ अक्षांश का सही तथ्य तो यही है...

इसके बाद, सिंगमन री के दस्तों ने मालिक के हुक्म पर चलकर उत्तरी कोरिया की ज़मीन पर उछल-कूद दिखानी शुरू की। उन्हें ऐसा करने से बार-बार रोका गया, माने नहीं। उत्तरी कोरिया की सरकार प्रस्ताव

रखती कि ३८ अक्षांश की मेंड़ों को तोड़कर गिरा दिया जाय, अमरीकनों को निकाल बाहर किया जाय और देश को फिर पहले ही की तरह एक कर दिया जाय। दक्खिनी कोरिया की सरकार इसका जवाब अपने यहाँ के और सैकड़ों मज़दूरों, किसानों और बुद्धिजीवियों को गोली से उड़ा कर और सरहद पर और कुछ नये झगड़े छेड़ कर देती—क्योंकि यही अमरीकनों की ख़्वाहिश थी, क्योंकि उत्तरी कोरिया का प्रस्ताव अमरीकी साम्राज्य की मौत का परवाना था।...ग़रज़ बच्चो यह सब कुछ नहीं हुआ और अमरीकी कठपुतले सीमा पर बराबर गड़बड़ियाँ करते रहे और उत्तरी कोरिया पर हमला करके उस पर अपना क़ब्ज़ा जमा लेने की डुलेस साहब की खिचड़ी पकती रही और धीरे धीरे उसने एक ख़तरनाक शकल अख़्तियार करली। आख़िरकार जब यह लोग हद से गुज़र गये तो किम इर सुंग को कहना पड़ा—अब बातचीत से काम नहीं चलेगा, दूसरी तरफ़ कोई बात करने वाला हो तब तो बात हो। यह वॉलस्ट्रीटवाले लोहे के व्यापारी हैं और लोहे की ज़बान ही उनकी समझ में आती है..हमें अपनी हिफ़ाज़त करनी ही होगी।

बच्चो, अगर तुम एक नज़र मलय के नक़्शे पर डालोगे तो आसानी से यह बात तुम्हारी समझ में आ जायगी कि भूगोल की दृष्टि से कोरिया और मलय में बहुत साम्य है। पहली बात तो यह कि दोनों प्रायद्वीप हैं। और नक़्शे में देखो, दोनों चोंच की तरह आगे को निकले हुए हैं...चोंच की तरह निकले हुए हैं यह भी कह सकते हो और चट्टान की तरह निकले हुए हैं यह भी कह सकते हो...चट्टान की तरह इसलिए कि दो साम्राज्यों के बेड़े उनसे टकराकर चूर चूर हो रहे हैं, बेविन साहब का बेड़ा एक जगह, ट्रूमन साहब का बेड़ा दूसरी जगह। समुद्र में चट्टान की तरह या नक़्शे पर इतिहास के अंगुलि-निर्देश की तरह या साम्राज्यवादी दुश्मन के पहलू में

छुरी की तरह ये प्रायद्वीप सचमुच बहुत अजीब हैं कि उनसे टकराकर बड़े-बड़े, हाँ बच्चो बहुत ही बड़े-बड़े बेड़े ग़र्क़ हुए जा रहे हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि ये बेड़े किसी दूसरी ही, छिपी हुई चट्टान से टकराकर बिखर रहे हों क्योंकि आख़िर आज़ादी चाहनेवाला हर दिल भी तो एक चट्टान ही होता है न? . . .

बच्चो, यह जो मैंने तुम्हें बतलाया यही कोरिया का सच्चा भूगोल है; लेकिन मुझे पता चला है कि मैकआर्थर के हेडक्वार्टर वाले ऐसा नहीं सोचते। वह इस बात को नहीं मानते कि कोरिया कोई देश है। उनका पक्का ख़याल है कि कोरिया (यानी उत्तरी कोरिया क्योंकि दूसरा कोरिया तो उनका कुशन है जिस पर वह बैठे हैं—कुशन के भीतर से भी छुरियाँ ऊपर को निकली हुई हैं वह दूसरी बात है!) एक ज्वालामुखी पहाड़ है जिसकी देवदार जैसी लम्बी लम्बी टाँगें हैं, और जो गोलियों की धुंआधार बाढ़ में भी अपने दैत्याकार पैरों से आगे बढ़ता ही रहता है, जिस पर आग का कोई असर नहीं होता क्योंकि वह ख़ुद आग है।

कुछ फ़ौजी अफ़सरों का यह भी ख़याल है कि कोरिया एक क़ीमा बनाने वाली मशीन है, जिसकी गिरफ़्त में जो एक बार आता है वह फिर क़ीमा बनकर ही बाहर निकलता है! . . . यही वजह होगी बच्चो, कि अमरीकी फ़ौजें मैदान से ऐसे बगटुट भाग रही हैं जैसे डरा हुआ सियार और हाई-कमान की तत्ताथंभा करने की लाख कोशिशों के बावजूद किसी पर कोई असर नहीं है—सबको बस अपनी चमड़ी बचाने की धुन है।

मगर बच्चो, इस जगह पर तुम यह पूछ सकते हो कि क्या उत्तरी कोरिया वालों के चमड़ी नहीं है? नहीं बच्चो, चमड़ी उनके भी है, बग़ैर चमड़ी का कोई आदमी नहीं होता, मगर डर उनके सीने में नहीं है क्योंकि

जहाँ डर होता वहीं पर एक दूसरी चीज, मुहब्बत, इत्मीनान के साथ बैठी हुई है, मुहब्बत अपने खेत-खलिहान से, अपने कल-कारखानों से, अपने नृत्य और गीत से, अपनी ख़ुशी की ज़िन्दगी से, अपने सुनहरे भविष्य से। इसीलिए जब सनसनाती हुई अमरीकी गोलियाँ उनके सीने को फोड़ती हुई बाहर भी चली जाती है तब भी उन बहादुर लड़ाकों की यह मुहब्बत, आसमान को ज़मीन पर उतार लाने का उनका निर्भय संकल्प अपनी जगह पर वैसे ही बैठा बैठा मुसकराता रहता है . .

अब बच्चो, तुम्हें सिर्फ़ यह बताना रह गया है कि उत्तरी कोरिया क्षेत्रफल और आबादी दोनों में, दक्खिनी कोरिया से छोटा है। उत्तरी कोरिया की आबादी नब्बे लाख है और दक्खिनी कोरिया की दो करोड़। यहाँ पर तुम लोग मुझसे यह सवाल पूछ सकते हो कि कैसे इतने मुट्ठी भर लोग आँधी और तूफ़ान की तरह बढ़ते चले जा रहे हैं? क्या दक्खिनी कोरिया वाले जो अमरीका की अकूत मदद के बिना भी एक पर दो पड़ते हैं सब हिजड़े ही हैं? नहीं बच्चो, हिजड़ा तो सिर्फ़ वह चियाङ का भाई सिंगमन री है और उसके थोड़े से टुकड़खोर कुत्ते। मगर बस वही तो हैं जो उत्तरी कोरिया की मुक्ति सेना पर गोली छोड़ते हैं। तुम्हीं सोचो, क्या आज तक कभी भाड़े के टट्टू उबाल खाती हुई जनता का रास्ता रोक पाये हैं? वह क्या कभी जान की बाज़ी लगा कर लड़ सकते हैं? जो सिर्फ़ चाँदी के टुकड़ों और लूटपाट और अस्मतदरी की लालच से लड़ता हो, वह क्या कभी आग का सामना कर सकता है? तो फिर इसमें अचरज किस बात का अगर वे अमरीकी भाड़े के टट्टू उस बाढ़ के आगे तिनके की तरह बहे जा रहे हैं? बच्चो, बस वह मुट्ठी भर ही लोग हैं जो देशद्रोही सिंगमन री के साथ हैं बाकी तो दक्खिनी कोरिया के भी सभी लोग इस वक़्त अपने डेढ़ लाख साथियों के ख़ून का बदला जिन्हें सिंगमन री ने

अपने हाथ से अपनी उस जहन्नमी हकूमत की नींव में दफ़न किया है, उनके ख़ून का बदला उन नीच हत्यारों से ले रहे हैं। गोलियाँ वह भी छोड़ रहे हैं मगर मुक्ति सेना पर नहीं. . .वे लोग छापेमार हैं और उनकी आँखों में यू हेंसिक और कुओन दिन थाक और उन सभी हज़ारों साथियों का ख़ून है जिन्हें सिंगमन री ने सिर्फ इस 'गुनाह' के लिए गोली से उड़वा दिया है कि उन्हें कोरिया से प्रेम था, वह कोरिया को अमरीकी लानत से आज़ाद देखना चाहते थे, वह कोरिया को स्वतंत्र और अखंड देखना चाहते थे।

बच्चो, वक़्त ख़तम हो रहा है। अब आओ हम अपने पाठ को दुहरा लें। कोरिया भारत के सुदूर पूर्व में चीन से जुड़ा हुआ (वैसे ही जैसे नवजात शिशु अपनी माँ से जुड़ा रहता है!) एक प्रायद्वीप है जिसके तीन ओर प्रशान्त महासागर है जिसमें अमरीकी समुद्री बेड़े दौड़ते हैं और एक ओर चीन और सोवियत रूस नाम के दो देश हैं जिनकी धरती लाल है क्योंकि उसमें वहाँ के सपूतों का ख़ून मिला हुआ है। ३८ अक्षांश एक अमरीकी ख़न्दक़ का नाम है जो दक्खिनी कोरिया को उत्तरी कोरिया से अलग करती है यानी रात के तारीक अँधेरे को रोशनी के जलते हुए तीरों से बचाती है। कोरिया को पूर्व का स्तालिनग्राद भी कह सकते हैं क्योंकि नये हिटलरों के दाँत वहीं पर खट्टे हो रहे हैं। मैकआर्थर सुरक्षा परिषद् के सामने रो रहा है कि कम्युनिस्ट सेनाओं को रोकना असम्भव है। बड़ी देर में यह बात बेचारे की समझ में आयी। उन्हें रोकना सचमुच असंभव है क्योंकि वह उत्तरी कोरिया की या कहीं की सेनाएँ थोड़े ही हैं जो कोई उन्हें रोक ले, वह तो आज का क्रान्तिकारी इतिहास है जिसने उस मोर्चे पर कोरियनों की वर्दी पहन ली है और दुनिया की आज़ादी और

अमन के दुश्मनों को रौंदता-रौंदता आगे बढ़ता चला जा रहा है। वह इतिहास-पुरुष है जो कोरिया में कोरियनों की वर्दी पहन लेता है, चीन में चीनियों की, वियेतनाम में वियेतनामियों की, मलय में मलयवालों की, फ्रांस में फ्रांसीसियों की, इटली में इटालियनों की, मगर है वह एक ही और कोई उसे रोक नहीं सकता क्योंकि वह इतिहास-पुरुष है और नये सूरज के रथ पर सवार है और कोई उसे क्रान्ति कहकर पुकारता है, कोई सोवियत रूस कहकर, कोई स्तालिन कहकर...

बच्चो, जिस तरह स्तालिनग्राद को हिटलर का क़ब्रिस्तान कहते हैं, उसी तरह कोरिया ट्रूमन का क़ब्रिस्तान है। जब नब्बे लाख के सामने टाँय टाँय फिस्स, उसको भागते राह नहीं मिल रही है तब भला वह नब्बे करोड़ से, दुनिया की आधी आबादी से, क्या खाकर लड़ेगा? वांसन पर वह पाँच सौ नहीं पाँच हज़ार टन बम गिरा ले, उससे चाहे वांसन की एक-एक दीवार टूट जाय मगर वांसनवासियों की रीढ़ नहीं टूटेगी। अपने वहशियाना ग़ुस्से में अमरीकी हवाई जहाज़ों ने रेड क्रॉस के अस्पताल तक को मिस्मार कर दिया। उन बमों ने अस्पताल के तमाम नीमजान मरीज़ों और घायलों को गोश्त और ख़ून का मलीदा भले बना दिया हो मगर उससे क्या उनकी आँखों में घूमनेवाला वह ख़ुश और बेहतर कोरिया का ख़्वाब मिट जायगा, उस कोरिया का जिसमें खलिहानों में जैसे सोने का ढेर लगा है और दूकानों में बेशुमार चीज़ें सस्ते दामों में मिल रही हैं और लोग, आनन्दपूर्वक, खेतों में और कारख़ानों में काम कर रहे हैं क्योंकि अब वह किसी और के लिए नहीं ख़ुद अपने और अपनों के लिए काम कर रहे हैं, जिसमें श्रम और नृत्य और संगीत एक दूसरे में मिल गए हैं, जिसमें जीवन ख़ुद एक संगीत है...नहीं वह ख़्वाब कभी नहीं मिट सकता, कभी नहीं। बम ईंट-पत्थर लोहे-लक्कड़ को तोड़ सकते हैं, इंसान की हिम्मत को नहीं

तोड़ सकते, खेतों और बाग़ों को उजाड़ सकते हैं, उम्मीदों की फुलबगिया को नहीं उजाड़ सकते...

इसीलिए कोरियाई क़ीमे की मशीन न सिर्फ़ बदनसीब अमरीकी नौजवानों का बल्कि ट्रूमन और ब्रैडले और मैकआर्थर की तमाम फ़ौजी स्कीमों का भी क़ीमा बना कर रक्खे दे रही है...

पर बच्चो, ट्रूमन और मैकआर्थर की फ़ौजी स्कीमों का कोरिया में भले क़ीमा बन रहा हो मगर यहाँ के चोरबाज़ारियों के लिए तो कोरिया की लड़ाई एक मुंह-माँगी मुराद है, उन्हीं की तो पाँचों घी में है। उन्होंने लड़ाई शुरू होने के घंटे भर के अन्दर आटा-दाल-चावल-हल्दी-नमक-किरासन-कपड़े के दाम चौगुने-पँचगुने करके अपनी तिजोरियाँ भरना और हम ग़रीब लोगों का क़ीमा बनाना शुरू कर दिया है। बच्चो, तुम ख़ुद सोच सकते हो कि जब इस ज़रा सी लड़ाई में चीज़ें इतनी महंगी हो गयी हैं तब अगर कभी बड़ी लड़ाई छिड़ी तो लोग चाहे बम से न भी मरें मगर भूख और ठंड से तो ज़रूर मर जायेंगे।

इसलिए बच्चो, समझ लो कि अब दुनिया को किसी भी हालत में लड़ाई नहीं चाहिए और जो भी लड़ाई छेड़ता है, जैसे अमरीका, वह सारी इंसानियत का दुश्मन है। मगर ख़ुशी की बात है, बच्चो, कि अब इन मौत के सौदागरों के मुंह में लगाम देने की ताक़त जनता के हाथ में आ गयी है। इसका जीता-जागता सबूत ख़ुद कोरिया है। अगर बित्ते भर का कोरिया खुली लड़ाई में अमरीका के पैर उखाड़ सकता है तो इसका मतलब है कि अब शांति के कपोत को अपने बज़ूका का निशाना बनाना ट्रूमन या किसी भी जंगबाज़ के बस की बात नहीं रह गयी है।

लोगों के ख़ून और गोश्त से डालर बटोरने वाले जंगबाज़ों के ख़िलाफ़ जंग का एलान करके आगे बढ़ती हुई जनता ने उस शांति के कपोत को अपने दिल के भीतर बिठाल लिया है, उस सीने में जिस पर कोरिया के टैंकों ही की तरह एक ऐसे फ़ौलाद की चादर चढ़ी हुई है जिसे कोई भी अमरीकी बंदूक़ या तोप भेद नहीं पाती !

'बस, साइनबोर्ड बदल गया है और आजादी की गाड़ी धकाधक चली जा रही है....'

आज़ादी की रेल उर्फ़ वार्निश के पीपे

कहते हैं न कि बारह बरस पर घूर के भी दिन फिरते हैं। सो हम तीसरे दर्जे के मुसाफ़िर इसी कहावत का दामन मज़बूती से पकड़े बैठे थे कि चाहे जो हो, एक न एक दिन वह हमारे इस घूर पर भी सही उतरेगी।

और सही वह उतरी।

एक दिन हमारे मुहल्ले में डुग्गी पिटी कि आज़ादी आ गयी और आज से हम आज़ाद हैं। डुग्गी का पिटना था कि हम लोग पूरब-पच्छिम, उत्तर-दक्खिन सभी तरफ़ दौड़ गये जिसमें क़ायदे से उसकी अगवानी तो कर सकें...और अगवानी का सवाल तो बाद में उठता है, पहले तो हम उस देवी के दर्शन करना चाहते थे। हमारे मन में बड़ा कुतूहल था कि आख़िर वह देवी है कैसी। सो साहब, हम लोगों ने बड़ी बेचैनी से अपने चारों तरफ़ निगाह दौड़ायी। ग़लती हम लोगों से यह हुई कि हमने समझ लिया कि आज़ादी कोई ऐसी चीज़ है, जो हमें हर तरफ़ धूप की तरह फैली हुई या पानी की तरह लहरें मारती हुई मिलेगी। मगर वह कोई ऐसी सस्ती चीज़ तो है नहीं। और फिर यह भी तो है कि अलौकिक चीज़ें इन चर्म-चक्षुओं से देखी भी तो नहीं जा सकतीं। फिर भला, हम आज़ादी की देवी को ही कैसे देख पाते? उनके लिए तो और भी अच्छे ज्ञान-चक्षुओं की ज़रूरत पड़ने वाली ही। सो इस प्रसंग में मैंने यह सुना है कि विज्ञान के इस युग में ज्ञान-चक्षुओं के भी चश्मे मिलने लगे हैं। पर इन चश्मों की एजेंसी हिन्दुस्तान के मशहूर चश्मा-फ़रोश बी० एन० बैजल

ने नहीं बल्कि दिल्ली के दो बड़े व्यापारियों ने ले रखी है, जिनमें से एक कशमीरी है और दूसरा गुजराती। इसलिए अगर किसी को स्वतंत्रता देवी के दर्शन करने हों, तो उसे चाहिए कि पहले अपनी लुगड़ी बेच कर दिल्ली के उन व्यापारियों से ज्ञान-चक्षु मँगा ले। फिर क्या है, फिर तो उसे घर बैठे ही देवी के दर्शन होने लगेंगे और इतना ही नहीं, अपने चारों तरफ़ हर चीज़ में, सारे चराचर जगत में स्वतंत्रता देवी ही निवास करती दिखायी देंगी। ज्ञान-चक्षुओं का यही करिश्मा है। और जब तक ज्ञान-चक्षु नहीं मँगाये जाते, तब तक हर बार दर्शन की ताब लगने पर यॉर्क रोड, दिल्ली तक जाना पड़ेगा; क्योंकि आजकल वहीं उनका ख़ास मुक़ाम है, आप चाहें तो उसे राजधानी भी कह सकते हैं। ऐसी हालत में सब से सस्ता नुस्ख़ा यही है कि ज्ञान चक्षु मँगवा लिए जायँ, नहीं तो हर बार स्वराजी रेल में चढ़ कर घुस पिल कर इतनी दूर जाना और इतने पर भी दर्शन होगा कि नहीं, कहना मुश्किल है; क्योंकि वहाँ पर संगीनधारी पुलिस का बड़ा कड़ा पहरा रहता है, और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए लोग अगर वहाँ संदिग्ध ढंग से घूमते पाये जाते हैं तो उन्हें गोली भी मार दी जाती है। यों वे रहती वहाँ पर ज़रूर हैं। जैसा कि सभी जानते हैं, पहले वे कैलाश पर्वत पर रहा करती थीं, कुछ लोगों ने उन्हें क़ैद कर के वहाँ डाल दिया था; लेकिन जब से देश आज़ाद हुआ है तब से वह स्वास्थ्य-सुधार के लिए मैदान पर उतर आयी हैं। तभी से उनका पता, जैसा कि मैंने अभी आपको बतलाया, सोलह यॉर्क रोड हो गया है और वे भी पांडिचेरी की मातुश्री के समान साल में एक दिन, पन्द्रह अगस्त को, दर्शन देती हैं। बाक़ी दिन जाने से कुछ ख़ास फ़ायदा नहीं, हाँ, थोड़ा जोखिम ज़रूर है।

जो लोग इस बात का बेजा फ़ायदा उठाकर कि यह देवी बाज़ारू औरतों

की तरह गली-गली टक्कर नहीं खाती फिरतीं, बल्कि कुलीन कश्मीरी कुलवधू की तरह घर की शोभा बढ़ाती हैं, यह कहते फिरते हैं कि भारत माता अभी भी ग़ुलाम है, अब भी वह पहले ही की तरह कैलाश पर्वत पर जंजीरों में जकड़ी पड़ी है, उसके तन पर कपड़ा नहीं है, उसकी आँखों से आँसुओं का तार जारी है और उसके सामने एक तसले में अरहर की दाल और रोटी का टुकड़ा पड़ा है—जो लोग ऐसी तस्वीर खींचते हैं, हमारे प्रधानमंत्री, जो दुनिया के सबसे बड़े आदमी समझे जाते हैं, कहते हैं कि ऐसे लोगों का इतिहास का ज्ञान कच्चा है, वे तोते की तरह अपना पुराना रटा हुआ सबक़ दुहराये जा रहे हैं, जब कि दुनिया बदल रही है, जब कि चारों तरफ इंक़लाब हो रहे हैं ! इंक़लाब के जमाने में ऐसी बे सिर-पैर बात के क्या मानी ? इसलिए जो लोग इस क़िस्म की बात करते हैं वे मुल्क के दुश्मन हैं, कम्युनिस्ट हैं, लोगों को भड़काना ही उनका पेशा है, उनसे होशियार रहो ।

इसलिए, भाई, मैं तो उनसे सदा बचकर चलता हूँ । मुझे ब्लैकमार्केटियर की सोहबत क़बूल, कम्युनिस्ट की नहीं ।

और देखिए न, ये कम्युनिस्ट वाक़ई कितने ख़राब हैं; वे रेल ही नहीं, रेल की बात तक को सबोताज करना चाहते हैं !

हाँ, तो मैं कह यह रहा था कि जब हम लोगों ने पहले-पहल यह सुना कि देश आजाद हो गया और अब रेल में सुधार होने जा रहा है—अब चार की जगह तीन ही दर्जे रहेंगे, ड्योढ़ा सेकंड में तबदील कर दिया जायगा, तीसरे में पंखे लग जायेंगे वग़ैरः वग़ैरः (ये तमाम ही बातें तो रोज 'जयहिंद गजट' में निकलती थीं) तो हम लोगों ने समझ लिया कि हमारी सरकार रेल में जो कुछ करने जा रही है, वह अहिंसक क्रान्ति

से कुछ कम नहीं है, मारे नम्रता के नेता लोग उसे सुधार का नाम दे रहे हैं।

अब हम आपको क्या बतलायें, रेल में तो सुधार जब होता तब होता; हम तो अभी से कल्पना के घोड़ों पर चढ़कर हवा में उड़ने लगे। लेकिन जब हमने वैसे ही हवा में उड़ते-उड़ते बुकिंग आफ़िस से क्लास टू का टिकट ख़रीदा, तो उस वक़्त टिकट मिलने के साथ-साथ न-जाने किसने मेरे कल्पना के घोड़े में एक छोटा सा छेद कर दिया और मेरा घोड़ा धीरे-धीरे ज़मीन पर गिरने लगा। मैंने देखा कि ड्योढ़े के टिकट को ही काटकर क्लास टू कर दिया गया है ! मैंने अपने मन में कहा—अजीब आदमी हैं यार, ये रेलवाले। इतनी बड़ी बात हो रही है, रेल की कायापलट हो रही है और इनसे इतना भी नहीं हुआ कि नये टिकट तो छपवा लेते....ख़ैर भाई, होगी, इसमें भी कोई मसलहत होगी। मसलहत समझने के लिए टिकट को काफ़ी उलट-पलट कर देखा, मगर मसलहत कुछ ख़ास समझ में नहीं आयी। लेकिन इतना मेरी समझ में ज़रूर आ गया कि टिकट में और सब तो वही है, सिर्फ़ ड्योढ़ा काटकर क्लास टू कर दिया गया है। ठीक है, इतनी ज़रा सी बात के लिए इन करोड़ों पुराने टिकटों को रद्दी करना हमारे नये राष्ट्र के लिए ठीक नहीं, ख़ासकर ऐसे संकट के समय जब कि उसे खाने के लाले पड़े हुए हैं।

बात तो ठीक ही थी; लेकिन इस बहस में मेरा घोड़ा बेचारा एकदम बेकार हो चुका था, इसलिए मैंने उसे वहीं बुकिंग आफ़िस के पास छोड़ दिया और पैदल-पैदल गाड़ी पर पहुँचा। गाड़ी आ चुकी थी। अरे यह क्या ? यह इस क़दर रेल-पेल क्यों है ? रेलवे ने सब के लिए आराम मुहय्या कर दिया, मगर यह धींगामुश्ती वैसी ही चली जा रही है ! ठीक ही कहा है, कुत्ते की पूँछ.......

इन्हीं ख़यालों में डूबे हुए मैंने जैसे ही एक सेकंड दीख पड़ने वाले डब्बे में पैर रखा कि एक हिन्दुस्तानी साहब गरजा—यह फ़र्स्ट है जी, कहाँ घुसे आते हो?

मैंने कहा—आप कैसी बात करते हैं साहब; देखते नहीं, ये सेकंड की सीटें हैं, फ़र्स्ट में कहीं ऐसी सीटें होती हैं? आपको शायद पता नहीं, यह पुराना सेकण्ड है जिसे अब क्लास टू कहा जाता है—-ड्योढ़ा उड़ा दिया गया न! मैंने वैसी बुरी बात तो कोई कही नहीं थी, मगर साहब मेरे यार को उस पर बड़ा ताव आ गया। बोला—'अच्छा! आप उल्टे मुझी को सिखाने चले हैं। आपकी ये आँखें हैं या बटन!' कह कर उसने मेरा हाथ पकड़ा और बाहर आया।

मेरी शर्म का ठिकाना न था। बात उसी की ठीक थी। मुझ पर जैसे किसी ने घड़ों ठंडा पानी डाल दिया। बात उसी की ठीक थी, यह क्लास वन था। मगर मेरी भी बात गलत नहीं थी, यह पुराना सेकंड था। नये पेंट के नीचे से पुरानी लकीर अब भी चमक रही थी।

मुझे स्टेशन पहुँचने में यों ही काफ़ी देर हो गयी थी, उस पर से इस बहस-मुबाहसे में बड़ा वक़्त चला गया। मैं शशपंज की हालत में खड़ा सोच ही रहा था कि कहीं और जुगत बिठालनी चाहिए कि गाड़ी ने सीटी दे दी। अब तो साहब, मेरी परीशानी का वह आलम था कि आपको क्या बतलाऊँ। बोरिया-बक़चा सँभाले—एक छोटा-सा अटैची और बिस्तर ही तो था मेरे पास—मैं दौड़ कर एक ऐसे डिब्बे में चढ़ गया जिस पर नये-नये पेंट से 'क्लास टू' लिखा हुआ था, और नीचे से 'इंटर' की इबारत झाँक रही थी : अभी पुताई को हुए ही के रोज़ थे?

डब्बा खचाखच भरा हुआ था। मैं अपनी लकड़ी-सी टाँगों पर अपने-आपको

सँभाले अपने को तसकीन दे रहा था कि मैं रेलवई की अहिंसक क्रान्ति के बाद क्लास टू में सफ़र कर रहा हूँ—

लेकिन मेरे दिमाग़ का फ़ितूर ही समझिए कि पूरे वक़्त एक यही सवाल मेरे दिमाग़ के बंद दरवाज़े पर दस्तक दे रहा था कि पन्द्रह अगस्त को 'अहिंसक' क्रान्ति से हमारे देश में जो 'आज़ादी' आयी है वह भी क्या इस रेल-जैसी ही चीज़ नहीं है ? उसमें भी तो कहीं कुछ नहीं बदला है, सिर्फ़ साइनबोर्ड बदला है, 'ग़ुलामी' को सुनहरे रंग के वार्निश से पेंट कर के 'आज़ादी' कर दिया गया है, लेकिन पुरानी लिखावट अभी भी दबी नहीं है. . .

. . .बस, साइनबोर्ड बदल गया है और आज़ादी की गाड़ी धकाधक चली जा रही है, करोड़ों हिन्दुस्तानियों की तरह मैं भी उसमें खड़ा-खड़ा चला जा रहा हूँ। दम सब का घुट रहा है, लेकिन सब यही समझने की कोशिश कर रहे हैं कि शायद इसी को आज़ादी कहते हैं, शायद यही आज़ादी है, उस आज़ादी में ज़रूर कहीं खोट होगी जिसमें सब लोग सुखी हों, हँसते हों, गाते हों, नाचते हों, रंगीन कपड़े पहन कर ख़ुशियाँ मनाते हों। इसीलिए तो हमारे प्रधान मंत्री पण्डित जवाहरलाल को अब अपनी पुरानी ग़लती मालूम हो गयी है और वह कहने लगे हैं कि सोवियत रूस में सच्ची आज़ादी नहीं है। बिलकुल ठीक बात है, वहाँ सच्ची आज़ादी राई बराबर भी नहीं है। अगर होती तो उनके भी चेहरे हमीं लोगों की तरह होते, आज़ादी के बोझ से थके हुए, कुम्हलाये हुए, परीशान और घबराये हुए, उनका भी दम हमीं लोगों की तरह घुट रहा होता। यह इसीलिए कि हम आज़ाद हैं, और वे खुश हैं, इसीलिए कि वे आज़ाद नहीं हैं !

कुछ सरफिरे ऐसे भी हैं हमारे देश में, जिनकी समझ में इतनी ज़रा-सी बात भी नहीं आती। ऐसे लोगों का ख़ुदा ही बेड़ा पार करेगा। ऐसे

सरफिरों की बात मैं नहीं करता; मैं तो अपनी बात करता हूँ और भाई और कोई इस आज़ादी का क़ायल हो चाहे न हो, मैं तो हूँ और डंके की चोट पर कहता हूँ कि हूँ और सच्चे दिल से हूँ, क्योंकि यह अहिंसा से पायी गयी आज़ादी है; क्योंकि यह ख़ून का दरिया बहा कर नहीं, बस वार्निश के कुछ पीपे लुढ़का कर पायी गयी है !

'....वह नयी दुनिया क्या यों ही बग़ैर कोई क़ीमत चुकाये आ जायेगी, वह नया सूरज क्या धरती की कोख से यों ही बग़ैर किसी दर्द और ख़ून के निकल आयेगा....'

तेलंगाना के वीरों से

फाँसी के फन्दे को चूमनेवाले, तेलंगाना के हमारे जाँबाज़ साथियो,

आज लेनिन की बरसी के रोज़ मेरा लाल सलाम लो। मुझे डर है कि मेरी यह सौग़ात भी शायद तुम तक नहीं पहुँचेगी। क्योंकि तुम्हारे चहार तरफ़ पत्थर की मोटी-मोटी दीवारें हैं, दो—एक तो वह जो दिखायी देती है जिसकी नापजोख सब कुछ उसी पर दर्ज होती है और दूसरी वह जो दिखायी नहीं देती, जिसकी कोई नापजोख नहीं है मगर जिसे महसूस सब करते हैं, जो महसूस करायी जाती है, जो पहली दीवार से भी ज्यादा सख़्त और बेहिस होती है, मुर्दा पथरायी हुई इंसानियत की दीवार।

मगर तब भी आज लेनिन की बरसी के रोज़ मेरा लाल सलाम लो क्योंकि इन दीवारों को तोड़ कर गिराना ही तो हमें लेनिन ने सिखाया है।

मैं तुम्हारी ही पार्टी का एक सिपाही हूँ और क़लम ही मेरी तलवार है। मैंने प्रण किया था कि इसी तलवार से तुम्हारे गले में पड़े हुए क़ातिल फन्दे को काट दूँगा और काट दूँगा उन जल्लाद हाथों को जो उसे तुम्हारे गले में पहनाने के लिए आगे बढ़ेंगे. . .मगर आज मैं शर्मिन्दा हूँ, मेरी क़लम शर्मिन्दा है, उसका पानी उतर गया है। कहाँ है उसकी आनबान, उसका वह इतराकर गरजकर कहना : तेलंगाना के किसान वीरों को फाँसी नहीं होगी. . .अरे गधे, देख, फाँसी हो रही है, हुकूमत उन्हें डंके

तेलंगाना के वीरों से

फाँसी के फन्दे को चूमनेवाले, तेलंगाना के हमारे जाँबाज़ साथियो,

आज लेनिन की बरसी के रोज़ मेरा लाल सलाम लो। मुझे डर है कि मेरी यह सौग़ात भी शायद तुम तक नहीं पहुँचेगी। क्योंकि तुम्हारे चहार तरफ़ पत्थर की मोटी-मोटी दीवारें हैं, दो––एक तो वह जो दिखायी देती है जिसकी नापजोख सब कुछ उसी पर दर्ज होती है और दूसरी वह जो दिखायी नहीं देती, जिसकी कोई नापजोख नहीं है मगर जिसे महसूस सब करते हैं, जो महसूस करायी जाती है, जो पहली दीवार से भी ज्यादा सख़्त और बेहिस होती है, मुर्दा पथरायी हुई इंसानियत की दीवार।

मगर तब भी आज लेनिन की बरसी के रोज़ मेरा लाल सलाम लो क्योंकि इन दीवारों को तोड़ कर गिराना ही तो हमें लेनिन ने सिखाया है।

मैं तुम्हारी ही पार्टी का एक सिपाही हूँ और क़लम ही मेरी तलवार है। मैंने प्रण किया था कि इसी तलवार से तुम्हारे गले में पड़े हुए क़ातिल फन्दे को काट दूँगा और काट दूँगा उन जल्लाद हाथों को जो उसे तुम्हारे गले में पहनाने के लिए आगे बढ़ेंगे. . .मगर आज मैं शर्मिन्दा हूँ, मेरी क़लम शर्मिन्दा है, उसका पानी उतर गया है। कहाँ है उसकी आनबान, उसका वह इतराकर गरजकर कहना : तेलंगाना के किसान वीरों को फाँसी नहीं होगी. . .अरे गधे, देख, फाँसी हो रही है, हुकूमत उन्हें डंके

की चोट पर फाँसी दे रही है; * अगर तुझमें कुछ हो दम तो अपना क़ौल पूरा कर, आगे बढ़, और काट दे उस क़ातिल फन्दे को। और अगर इतना दम नहीं है तो शर्म से अपना सर गाड़ ले और क़बूल कर कि तेरा प्रण झूठा हुआ, कि तेरी शिकस्त हुई, कि जल्लाद की फ़तेह हुई।...कल भोर में, सूरज की किरन ज़मीन पर उतरने के साथ-साथ, उषा की लाली आकाश पर फैलने के साथ-साथ, चिड़ियों के पुरशोर चहचहाने के साथ-साथ, दुनिया के जागने के साथ-साथ तेरह हसीन और जवान ज़िंदगियाँ हमेशा के लिए सुला दी जायेंगी, हलाक कर दी जायेंगी, तख़्ता उनके पाँव के नीचे से खींच लिया जाएगा और वो पाँव मौत के ग़ार में झूलने लग जायेंगे...

हाँ।

मगर यह किसकी आवाज़ है जो अपनी पुरजोश ज़बान में मुझसे कह रही है कि यह शिकस्त कोई शिकस्त नहीं, जल्लाद की यह फ़तेह कोई फ़तेह नहीं...यह तो वह क़ीमत है जो हम बहुत सादगी से, निहायत बेतकल्लुफ़ी से अदा करते हैं क्योंकि वह जो नयी दुनिया आ रही है उसके मेज़बान हमीं हैं...वह नयी दुनिया क्या यों ही बग़ैर कोई क़ीमत चुकाये आ जायेगी, वह नया सूरज क्या धरती की कोख से यों ही बग़ैर किसी दर्द और ख़ून के निकल आयेगा...नहीं ऐसा नहीं होता, ऐसा कभी नहीं होता। वह नयी रंगारंग सुबह मुझसे तुमसे हर एक आदमी से कह रही है कि मुझे तुम्हारे दिल का ख़ून चाहिए, मुझे अपने उस धड़कते हुए दिल का ख़ून दो जहाँ पर गोली लगी है, अपने सर का ख़ून

* अन्तरराष्टीय आन्दोलन ने तेलंगाना के वीरों को फांसी के तख़्ते से उतार लिया है।—ले०

दो जिस पर लोहे के कुन्दे बरसे है, अपने कटे हुए हाथों और पैरों का ख़ून दो जिन्हें क़ासिम रिजवी के रजाकारों ने काट डाला है, अपनी लहूलुहान उँगलियों का ख़ून दो जिनके नाख़ूनों में ज़ालिम ने खजूर के काँटे चुभोये हैं, अपनी आँख के सूने कटोरों का ख़ून दो जिनका मानिक अब किसी के नौलखाहार में जड़ दिया गया होगा क्योंकि अब तो वह भी महज़ एक पत्थर है . . ख़ून दो ख़ून दो ख़ून दोगे तभी उस रंगीन सुबह के आने पर कह सकोगे कि उसमें तुम्हारा दिया हुआ रंग भी शामिल है।

यह आवाज़ किसकी है ?

यह आवाज़ लेनिन की है, लेनिन के सिपाहियों की है, गेब्रियल पेरी की है, जूलियस फ़ूचिक की है, भगतसिंह और सूर्यसेन की है, कय्यूर के शहीदों की है, पुन्नप्रा और वायलार, कोयम्बटोर और कुड्डालोर और साबरमती और दमदम के शहीदों की है। यह आवाज़ तुम्हारी है, यह आवाज हमारी है, नयी दुनिया के हरावल की है, उस नयी ख़ूनी सुबह का गाना गाने वाले पंछियों की है।

उसी नयी सुबह की अगवानी के लिए कल सबेरे तेरह शहीदों का एक कारवाँ अपने सर हथेली पर लिये हुए, अपने ही ख़ून से तर परचम अपनी ही गर्म हड्डियों में लगा कर उसे शान के साथ फहराता हुआ आगे बढ़ेगा— वहाँ उस लाल क्षितिज की ओर जहाँ वह बड़ा-सा सूरज ज़मीन पर लगी हुई आग के समान दिखायी देता है। वहाँ पहुँच कर यह अजीब कारवाँ उस सुर्ख़ आफ़ताब में घुल जायेगा, उसकी सुर्ख़ी में इंसान के ख़ून की सुर्ख़ी, इंसान की बग़ावत और हिम्मत और शहादत की सुर्ख़ी घुल जायेगी और वह लाल सूरज, दहकती हुई आग का वह शोला और भी लाल हो जायेगा। यह न समझना कि यह कारवाँ अकेला ही वहाँ तक जायेगा।

नहीं, लाखों करोड़ों इन्क़लाबी मेहनतकश उन्हें अपने कांधे पर, अपने सर माथे पर बिठाले हुए उनके संग-संग जायेंगे और जब वे अपने इन शहीद साथियों को सूरज की अगिन गोद में रख कर लौटेंगे तो उस अंगारे का एक टुकड़ा, उस दहकती हुई वन्य आग का एक बड़ा-सा, लपटें फेंकता झुरमुट उनके सीने मे भी होगा।

ओ जल्लाद, यह मैं तुझे सुनाने के लिए चिल्ला कर कहता हूँ . . .

कल भोर में इन बहादुरों को फांसी लग जायेगी। मगर नहीं, यह फांसी इन बहादुरों को नहीं लगेगी, यह फांसी लगेगी उस विधान को जो इतने धूमधड़ाके के साथ, जनता का विधान कह कर, आज़ाद हिन्दुस्तान का विधान कह कर छब्बीस जनवरी को इस बदनसीब मुल्क पर लादा जा रहा है। उस दिन झंडे फहराये जायेंगे, दिये जलाये जायेंगे और तक़रीरें होंगी जो बड़े अनोखे हौसले के साथ लोगों को यह समझाने की कोशिश करेंगी कि किस तरह यह विधान जिसके लिए किसी के दिल में ज़र्रा बराबर उमंग नहीं है जनता की आज़ादी का सब से बड़ा दस्तावेज़ है और क्यों लोगों को, तमाम मुल्क को इस महान अवसर पर ख़ुशी से नाच उठना चाहिए. . .मगर इस सब से कुछ नहीं होगा, लफ़्ज़ों की भूल-भुलैया में कोई आख़िर कब तक रह सकता है, चाहे फिर उस भूल-भुलैया को रचने वाले ख़ुद नेहरू ही क्यों न हों! इसलिए बावजूद इसके कि जनता का ही करोड़ों रुपया फूँक कर सरकार और कुछ उसके सरपरस्त और पिट्ठू बहुत दिये-विये जलायेंगे मगर ये दिये जल कर बुझ जायेंगे और लोगों के दिलों के चिराग़ नहीं रौशन होंगे, क्योंकि इन दो बरसों मे उनकी लहलहाती उमंगों पर जो पाला पड़ा है, उनकी पेट की लड़ाई पर जो ख़ून की बरसात हुई है उसे ये दिये झुठला नहीं सकते।

इसीलिए ये तमाम दिये बाहर ही बाहर जलेंगे और बुझेंगे, जो कहिए कि लोगों के दिलों के अन्दर एक भी दिया जले तो वह झूठ है। वहाँ पर या तो नाउम्मीदी का घटाटोप अँधेरा जंगल है जिसमें एक ढिबरी भी नहीं टिमटिमाती या एक बग़ावत की आग है जो पूरे वक़्त सुलग रही है और बढ़ रही है और जल्दी ही नाउम्मीदी के उस अँधेरे जंगल को आग लगा देगी। ग़रज़ दिया कहीं भी नहीं है। रोज़ हज़ारों टन काग़ज़ रँग कर इस सड़े-गले, बदबू करते, कोढ़ लगे, जनता का गला रेतने वाले विधान की जो इश्तहारबाज़ी की जा रही है वह भी अब सूरते हाल को नहीं बदल सकती। उसे भी लोग अब बहुत कुछ उसी नज़र से देखते हैं जिस नज़र से दवाइयों के हज़ारों इश्तहारों को देखते हैं। गोया हुकूमत भी कोई दवाख़ाना हो!

छब्बीस तारीख़ को इस दवाख़ाने के तैयार किए हुए इस नये ज़हर की पहली रस्मी घूँट लोगों को पिलायी जायेगी, इसलिए यह तय किया गया है कि उस दिन फाँसियाँ न होंगी। यह तो हो नहीं सकता कि ये फाँसियाँ रद हो जायें, क़त्ल और ज़िना करने वालों तक की फाँसियाँ रद हो सकती है लेकिन उन किसानों की फाँसियाँ कैसे रद की जा सकती है जो ज़मीन पर क़ब्ज़ा कर के किसानों-मज़दूरों का राज, जनता का राज क़ायम करते है। लिहाज़ा नेहरू-पटेल के जनता राज में इन बहादुरों की फाँसियाँ और आगे खिसक आयीं जिसमें छब्बीस जनवरी के बाद के नये हिन्दुस्तान, आज़ाद हिन्दुस्तान, रिपब्लिकन हिन्दुस्तान पर इन हत्यारों की परछाईं भी न पड़ने पाये! बच्चों को ऐसे लोगों की परछाईं से भी बचाना चाहिए, आसेब का डर रहता है—हमारा आज़ाद राष्ट्र भी तो अभी बच्चा है न, अभी उसे हुए ही कै रोज़! ऐसी हालत में तो हरगिज़ हरगिज़ इन हत्यारों की परछाईं इस बच्चे पर न पड़ने देनी चाहिए, पता नहीं क्या ग़ज़ब हो

जाये! इतने बड़े जश्न के रोज़ लौहपुरुषों के कपड़े पर खून के दाग़ न होंगे तो उनका वीरोचित वेश अधूरा रह जायगा न! इसीलिए कुछ असगुन भी हो तो कोई बात नहीं इन 'हत्यारों' को तो चार रोज़ पहले, बाइस की भोर में ही, जहन्नुम रसीद कर देना चाहिए! . . .अब नेहरू का हिन्दुस्तान जो उन्हें बड़ी खोज के बाद हाथ आया है, पूरे रस्मी ठाट-बाट के साथ, बाक़ायदा इस नये 'आज़ाद' दौर में दाखिल हो सकेगा और जब हर बात में भारत के प्राचीन गुप्तकालीन स्वर्णयुग को फिर से हिन्दुस्तान में ले आने की बात कही जाती है तो फिर इतने पुनीत अवसर पर ऐसी बड़ी चूक भला कैसे हो जाय कि स्वतंत्रता यज्ञ जैसे महान् यज्ञ के समय नरमेध न हो!

पुनश्च :

तेलंगाना के किसान साथियों के नाम अपना जो ख़त मैं आपके सामने रखना चाहता था, वह तो यहाँ ख़त्म हो गया, लेकिन अभी अभी मेरे हाथ उस ख़त की एक नक़ल लग गयी है जो तेलंगाने के उन तेरह किसान वीरों ने हमारे और आपके पास भेजा है। उसी ख़त को मैं नीचे दे रहा हूँ :

दोस्तो, साथियो,

कल सुबह हम लोग सदा के लिए आपसे रुख़सत हो जायेंगे। मगर इसका हमें कोई गम नहीं है। हमने अपने आपको अच्छी तरह टटोल कर देख लिया है, कहीं कोई कमज़ोरी नहीं है। हमारी पार्टी ने हमको सिखलाया है कि मेहनतकशों की इन्क़लाबी लड़ाई में मौत से नहीं डरना चाहिए। हमने इस बीच इस सबक़ को कई बार दुहराया है और हम आपको यक़ीन दिलाते हैं कि आख़िरी वक्त तक हम पार्टी की आन को बचायेंगे और ऐसा एक भी काम नहीं करेंगे जिससे हमारी पार्टी की इन्क़लाबी शान को बट्टा लगे।

हम सरकार के बड़े कृतज्ञ हैं कि उसने हमें बाइस तारीख़ को फाँसी देने का फ़ैसला किया। हमें इस बात की ख़ुशी है कि जब छब्बीस तारीख़ को जनतंत्रोत्सव के धूमधड़ाके के सिलसिले में कांग्रेस के नेतागण अपनी लच्छेदार बातों से भूखी जनता को ठगने के लिए खड़े होंगे उस वक़्त उनके उजले उजले कुर्तों पर हमारे ख़ून के धब्बे होंगे जो पुकार पुकार कर कहेंगे कि यह आज़ादी और जनतंत्र, रिपब्लिक और जनता-राज की बातें धोखा हैं, जाल हैं, फ़रेब हैं। उनकी सौ लच्छेदार बातें एक तरफ़ होंगी और हमारे ख़ून का एक छींटा एक तरफ़—हमें इसी बात की ख़ुशी है। यह किसान का ख़ून है, मेहनतकश का ख़ून है और वह बोलेगा। हमें सिर्फ़ अपनी ज़िन्दगी पर बस था और हमने उससे इन्क़लाबी लड़ाई को ताक़त पहुँचाने की कोशिश की, मगर अब हमें ख़ुशी है कि हमारी मौत भी उस लड़ाई को ताक़त पहुँचायेगी।

आज लेनिन की बरसी है और अभी हम ज़िंदा हैं। ज़िंदा हैं इसीलिए लोहे के ये मोटे मोटे दरवाज़े भी हमसे यह नहीं छिपा सकते कि आज लेनिन का झंडा देश-देश में आगे बढ़ता ही चला जा रहा है, कि पचास करोड़ के चीन में, जो कि आधे एशिया के बराबर है, लाल इन्क़लाब की जीत हुई है और वहाँ पर आज लेनिन का झंडा फहरा रहा है, जो कि नयी ज़िंदगी का झंडा है, ज़िंदगी के नये वसन्त का झंडा है . . .

. . .हाँ परसों वसन्त है, पीली सरसों का वसन्त , पीले गेंदे का वसन्त, आम की पागल बौर का वसन्त, गहगहा कर फूले हुए लाल लाल पलाश का वसन्त, कोयल की कूकों और मीठी मीठी गुलाबी बयार का वसन्त। कल हर चीज़ नयी हो जायेगी। कल हर चीज़ पर एक नयी ज़िंदगी की छाप होगी, फ़क़त इंसान, ग़ुलाम इंसान का चेहरा वैसा ही रोगी और पीला और मुर्झाया हुआ रहेगा। इन्सान के चेहरे पर भी वसन्त का अक्स दिख-

लायी पड़े इसी का रास्ता हमें कामरेड लेनिन ने दिखलाया है। और हम इसी वसन्त के लिए लड़े, इंसान की ज़िन्दगी में, अपनी और अपने ही जैसे ग़रीब किसानों की ज़िन्दगी मे वसन्त लाने के लिए लड़े। उसी वसन्त की अगवानी के लिए हम जा रहे हैं। विदा, आख़िरी विदा, हमारे और अपने ख़ून से नयी ज़िंदगी के वसंत का अभिषेक करो, साथियो !

'...मुट्ठी भर नेताओं की ग़द्दारी के कारण देश की इंक़लाबी धरती बाँझ नहीं हुआ करती और वक़्त का जवाब देने के लिए बहादुरों की एक नयी फ़ौज को उगाकर खड़ा कर देती है...यही नयी ज़िन्दगी के मेमार हैं...

नयी दुनिया के मेमार

खाते खाते कुमार के गले में जैसे कौर अटक गया। जैसे कोई बड़ा सा नमक का डला मुँह में आ गया हो जो निगला न जाता हो। और वह पीढ़े पर से उठने को हुआ। उसे इस तरह उठता देख कर सभी छन भर को सकते में आ गये। बातों की फुलझड़ियाँ जो लगातार छूट रही थीं जैसे इकबारगी जल कर ख़त्म हो गयीं और बच गयी बस वह जली हुई स्याह ताँबे की सलाख़...किलकारियों का जैसे किसी ने गला घोंट दिया और हँसी के फ़ौवारे लबों पर ही सूख गये। जहाँ अभी ये दर्जन भर लोग बड़े मज़े के साथ हल्की-फुल्की बातों की लहरों पर बह रहे थे, वहाँ अब सभी के चेहरों पर एक बदली सी छा गयी।

कुमार को उठता देख उसकी बहन लता ने पूछा—खा चुके, कुमी ?

कुमार ने गिलास ज़मीन पर रखते, कुछ डरते और कुछ झेंप-सी मिटाते हुए कहा—खाया नहीं जाता, दीदी...

'खा लोगे तो यह जेल के साथियों के साथ ग़द्दारी हो जायगी, क्यों ?'

'..........................'

'बाहर आते वक़्त तुम्हारे साथियों ने कहीं हुक्म तो नहीं दे दिया था तुम्हें कि बाहर जा कर भी कुछ खाना मत !'

लता की आवाज़ में थोड़ी कठोरता थी। यह जेल के अंदर भूख हड़ताल करने की बात उसकी समझ में नहीं आती। ख़ास कर जब से उसने कुमी

की भूख हड़ताल की बात सुनी तब से उसे पूरे वक़्त सारी दुनिया पर, ख़ुद कुमी पर बेहद ग़ुस्सा आ रहा था। पहले रोज़ तो उसका मिज़ाज इतना ख़राब रहा कि उसने नाहक़ ही अपने क्लास की एक लड़की को इस बुरी तरह झिड़क दिया कि वह बेचारी रोने लगी। उस वक़्त तो उसका बस यही जी चाहता था कि किसी तरह कुमी को पा जाय तो पहले उसे चार चाँटे रसीद करे और फिर उसे ज़बर्दस्ती अपने सामने बिठाल कर खिलाये—भूख हड़ताल करने चले हैं ! भूख हड़ताल न हुई ख़ालाजी का घर हो गया ! चलो चुपके से बैठ कर खाना खाओ नहीं और पिटोगे ! यह सब खिलवाड़ मुझे नहीं भाता, समझे कुमी ?

सत्रह दिन से उसके भीतर ही भीतर ये चीज़ें खौल रही थीं। आज भूख हड़ताल के अठारहवें दिन महाशय जी बारह आये हैं तो यहाँ भी वही राग।

कुमार ने दीदी की बात का जवाब देने की कोशिश की—नहीं, ऐसी कोई बात नहीं दीदी . . .

लता ने किसी क़दर उसकी नक़ल उतारते हुए, काफी चिढ़ कर कहा—तो क्या बात है भैया, ज़रा मैं भी तो सुनूँ ? तुम्हारे यहाँ खाना न खाने से जेल में उन्हें कुछ और ताक़त मिलती हो तो तुम भले न खाओ, मैं नहीं कहूँगी। मगर यह फ़िज़ूल का सती होना मुझे एक आँख नहीं भाता, समझे कुमी ?

'दीदी, मैं तुमसे कैसे बताऊँ कि कौर जैसे मेरे गले के नीचे ही नहीं उतरता . . .'

'लाओ मैं झाड़ू से उतार दूँ . . .'

सब के चेहरे बहुत गम्भीर थे, हँसी का कोई मौक़ा न था मगर फ़िज़ा में जो एक तनाव था वह लता की इस बात से कुछ कम हुआ और एक हलका सा क़हक़हा पड़ा।

'मेरा मज़ाक़ मत बनवाओ दीदी', कुमार ने कुछ गरम लहजे में कहा, 'मैं तुमसे कह रहा हूँ, कि मुझसे खाया नहीं जाता। मैं क्या अपने ही घर में तकल्लुफ़ करने आया हूँ, जो तुम इस तरह मेरे पीछे पड़ रही हो? काश कि मैं बेफ़िक्री से खा सकता! तुमने देखा कि मैंने खाने की कोशिश की लेकिन दीदी, मैं तुम्हें कैसे बतलाऊँ कि मेरा गला कैसा फँस सा जाता है। मेरी जगह तुम होतीं दीदी, तो तुम्हारा भी यही हाल हो जाता...लगता है जैसे कोई मेरे पेट के भीतर बैठा हुआ है और मैं अगर ज़बर्दस्ती पेट के अंदर कुछ डालने की कोशिश करूँगा तो वह आदमी उसे बाहर को ठेल देगा। मुझको मजबूर मत करो दीदी। तुम जानती हो कि मैं कभी तुम्हारी कोई बात नहीं टालता...तुम्हें शायद पता न हो कि निखिल को गणपति को भूख हड़ताल पर गये अठत्तर रोज़ हो गया, हमारा तो अभी अठारहवाँ ही रोज़ है...तुम्हीं सोचो दीदी, निखिल ने अठत्तर रोज़ से कुछ नहीं खाया है...और वह क्यों? इसलिए नहीं कि उन्हें भूख नहीं लगती या अजीरन हो गया है...'

अब तक कुमार के सभी दोस्त और घर के लोग, सभी खाने से हाथ खींच चुके थे।

कुमार के चेहरे पर एक शान्त दृढ़ता थी और उसने अपने संयत स्वर में कहना जारी रक्खा—

उन्होंने भूख हड़ताल की क्योंकि दुनिया को वह दिखला देना चाहते थे कि गोली खाने के बाद भी, जब कि उनके शरीर से गरम गरम लहू का बहना जारी था, उस वक़्त भी वे अपने क्रांतिकारी सम्मान की रक्षा के लिए लड़

सकते थे, क्योंकि अपनी ज़िंदगी को ख़तरे में डाल कर भी वे अपनी तरफ़ से अपने देशभाइयों को यह दिखला देना चाहते थे कि यह हकूमत जो गांधी के नाम का डुपट्टा ओढ़ कर दिन रात अहिंसा और रामराज्य का राग अलापती है असलियत में जनता के इंक़लाबी आंदोलन की बोटी बोटी उड़ा देने का सपना देखने वाले बूचड़ों की हकूमत है। तुम्हें पता है यह भूख हड़ताल क्यों हुई? बात सिर्फ़ एक जेल से दूसरे जेल को ले जाने की थी। राजबंदियों की माँग बस इतनी-सी थी कि अगर उन्हें खुली ट्रक में इतना लंबा सफ़र करना हो तो वे रात को नहीं दिन को जाना चाहेंगे क्योंकि उनके कई साथी बीमार हैं। बस इतनी सी बात पर बात बढ़ गयी और ------जेल में अहिंसक बंदूक़ों ने ठंडे सीसे की गोलियाँ उगलीं और चार राजबंदी कटे रूख की तरह गिर पड़े, उनके पैर में गोली लगी थी, आसपास की ज़मीन उनके ख़ून से तर हो गयी...फिर अहिंसक वार्डरों और सिपाहियों ने उसी ख़ून बहती हुई हालत में बिला उनके घावों पर रुई का या यों कहिए इंसानियत का एक फाहा रक्खे उन्हें खुली हुई ट्रकों पर लाद दिया और ट्रकें घरघरा कर चल पड़ीं, बड़ी दूर थी उनकी मंज़िल, तीन सौ मील...'

एक भड़के हुए ज्वालामुखी के लावे की तरह यह कहानी कुमार के दिल से निकल रही थी। सुनने वाले कहानी की भयानकता पर एक बार काँप गये। उनका यक़ीन करने को जी न चाहता था कि यह उन्हीं के हिन्दुस्तान की नंगी तसवीर है, लेकिन यक़ीन कैसे न करते, कुमार का चेहरा, कुमार की गहरी आवाज़, कुमार के सच्चे तड़पते हुए अल्फ़ाज़, वे क्या झूठे हैं, वह क्या तीन दिन के लिए जो बाहर आया है तो झूठ का व्यापार करने? झूठ तो अपना ढिंढोरा ख़ुद पीटता है। कुमार के अल्फ़ाज़ कभी झूठ नहीं हो सकते।

'दुश्मन ने समझा था कि उसने इन 'बददिमाग़ों' का दिमाग़ ठिकाने लगा दिया, मगर—जेल पहुँचते ही उन्होंने अपनी उसी हालत में, ज़रा एक लमहे को ग़ौर कीजिए किस हालत में, अपने ज़ख़्मों को रूमाल की चिंदियों से बाँधते और अलग करते और बाँधते खुली ट्रक में तीन सौ मील का सफ़र करने के बाद, एक मिनट को बग़ैर सुस्ताये इस बर्बरियत के ख़िलाफ़ अपनी जंग छेड़ दी, जिसे आज अठत्तर दिन हो गए. . .किशन, इंसान की बुलंदियों की कोई हद नहीं है—इन साथियों को मालूम है कि देश की जनता अपनी करोड़ करोड़ आँखों से उन्हीं को देख रही है और वह जानते हैं कि उनको अपनी जिंदगी के इस शायद आख़िरी इम्तहान में भी पास होना है और अपनी सब से क़ीमती चीज़ दाँव पर लगा कर यह दिखला देना है कि एक बोलशेविक की तरह जीना और मरना किसे कहते हैं और यह भी कि मुट्ठी भर नेताओं की गद्दारी के कारण देश की इंक़लाबी धरती बाँझ नहीं हुआ करती और वक़्त का जवाब देने के लिए बहादुरों की एक नयी फ़ौज को उगा कर खड़ा कर देती है। बिपिन, हिन्दुस्तान में भी वह नया बोलशेविक आदमी पैदा हो गया है जो इस हुकूमत की ख़ूँरेज़ियों पर नाकामी के आँसू नहीं बहाता बल्कि नंगी और भूखी और इंक़लाबी जनता को साथ ले कर, हिम्मत के साथ आगे बढ़ कर डाकुओं की मढ़ी पर चोट करता है। ठीक है, इस लड़ाई में कुछ साथी ख़त्म हो जायेंगे, मगर यह मत समझना बिपिन कि यह ख़ून बेकार जायगा. . . जिनके दामनों पर इस ख़ून का दाग़ होगा, उनसे हिसाब करने का दिन भी आयेगा। वह दिन अब बहुत दूर नहीं है। लड़ाई छिड़ चुकी है।. . . फिर जैसे थक कर काफ़ी देर ख़ामोश रहने के बाद कुमी ने कहा— निखिल ने अठत्तर रोज़ से कुछ नहीं खाया है। मुझसे खाने को मत कहो दीदी—जो नहीं होता, गले में कौर फँसता है। तुम्हीं सोचो न. . .'

दीदी ने सोचा और उसकी समझ में आया कि हाँ, सचमुच इंसान के गले में कौर फँस सकता है अगर उसके साथ जीने और मरने वाले अपने क्रान्तिकारी सम्मान की खातिर अपने प्राणों की बाज़ी लगाये पड़े हों। कुमी ग़लत नहीं कहता। हमीं को जब मालूम हुआ कि कुमी भूख हड़ताल कर रहा है तब क्या हममें से किसी के गले के नीचे कौर उतर सका था? ...और तो और आठ साल की नीला ने भी कहा था, दीदी भूख नहीं है ...फिर थोड़ी देर बाद उसने पूछा था—दीदी, यह भूख हड़ताल क्या होती है?

तब लता ने कहा था—उसमें खाना नहीं खाते।

तब नीला ने पूछा था—तो फिर दादा भी खाना न खाता होगा...दीदी, उसे भूख नहीं लगती होगी?

नीला की बातों से दीदी की आँखें छलछला आयी थीं लेकिन उसमें ज़ब्त का माद्दा बहुत है। वही ऐसे मौकों पर उसे बचा लेता है। आँसू तो हलक़ तक ही आकर रुक गये थे मगर उसका दिल भर आया था और उसने नीला को खींच कर छाती से लगा लिया था...वह यों भी अपने इन तमाम छोटे बहन-भाइयों के लिए माँ की ही तरह थी और माँ के न रहने के बाद से तो वही उनकी माँ है। यही वजह है कि कुमी की बात उसकी समझ में आकर भी नहीं आती। मगर कुमी की आवाज़ का सच्चा दर्द, उसकी निगाहों की वह तरलता, उसका दर्पन की तरह साफ़-शफ़्फ़ाफ़ दिल जो उसके एक एक शब्द में बोल रहा था, लता को छुए बिना नहीं रहा और उसने ख़ुद अपने अंदर की कठोरता को पिघलते हुए महसूस किया। और उसी पिघलने के साथ उसे एक बहुत हलका सा एहसास इस बात का भी हुआ कि जो दर्द वह कुमी के लिए महसूस करती है वही दर्द कुमी निखिल के लिए महसूस कर सकता है क्योंकि वह दोनों एक ही जीवन-मरण की

लड़ाई के साथी हैं, एक ही वह दुश्मन है जिससे वह लड़ रहे हैं और एक ही वह नयी दुनिया का स्वपन है जो उनकी रगों का ख़ून बन गया है। वह भी एक तरह का खून का रिश्ता है—इसका हलका सा एहसास लता को हुआ। मगर वह राख भी तो हलकी ही सी रहती है जो चिनगारी को ढँके रहती है और वही राख जब हट जाती है तब चिनगारी चमक उठती है।

उस शाम के बाद फिर लता की हिम्मत नहीं हुई कि वह कुमी को खाने के लिए ज़ोर दे। लेकिन कुमार ने दूसरे रोज़ ख़ुद ही यह तय किया कि उसे अगर अपनी ख़ातिर नहीं तो दीदी की ख़ातिर, उमी की ख़ातिर, नीला की ख़ातिर पिताजी की ख़ातिर खाना खाना चाहिए। उसे जब सरकार बहादुर ने, पिता जी की बीमारी के कारण तीन दिन का पैरोल दिया है और पिता जी की तबियत में अब जब काफ़ी सुधार दिखाई दे रहा है तो वह अब ये दो दिन हँस खेलकर बितायेगा; फिर तो दो दिन बाद वही जेल की दीवारें होंगी और उनसे पत्थरों की तरह टकराने वाले वही इंक़लाबी नारे जो बीस गलों से निकलेंगे और इस सड़ी-गली हुकूमत की मौत की गूँज बनकर फिज़ा में तैर जायेंगे; वही तनहाई की कोठरियां होंगी और उनमें हर क़ैदी अकेला अपनी हिम्मत और धीरज का यानी अपनी रीढ़ की हड्डी का इम्तहान देगा। दो दिन बाद तो ज़िंदगी का यह रंग फिर होना ही है। ये दो दिन जो उसे मिले हैं उनमें वह दूसरों को सिर्फ़ ज़ुल्मो-जब्र की दास्तानें नहीं सुनायेगा कि हँसते हुए लोगों की भी हँसी मर जाये और न ख़ुद भूखा रहेगा कि दूसरे भी भूखे और कुम्हलाये हुए रहें। वह दो दिन बाहर की अगर आज़ाद नहीं तो कम से कम खुली हुई ज़िन्दगी को पूरी तरह अपने अन्दर समोयेगा, ख़ुद हँसेगा और दूसरों को हँसायेगा। भारी रंगों की कहानी भी अगर वह सुनायेगा तो इस तरह नहीं कि सुननेवालों का दिल बैठे बल्कि इस तरह कि वे इसे भी ज़िन्दगी की एक ज़रूरी शर्त समझें, एक मामूली सी शर्त,

दूसरे ज़रूरी कामों की तरह एक काम जो चलता ही रहता है, जिसका चलता रहना ही ज़िंदगी का उसूल है, जिसमें क़ुर्बानियाँ भी बड़ी ख़ामोशी के साथ होती ही रहती है क्योंकि उनके बग़ैर नयी ज़िन्दगी का जनम नहीं होता—और जिसमें लड़नेवालों के लबों पर हँसी सदा खेला करती है क्योंकि इंसाफ़ की लड़ाई में हिस्सा लेने से बड़ा सुख और कोई नहीं है।

दो दिन कुमी ने ऐसा ही किया।

अभी उमी और विपिन और किशन और कुछ और साथी हँसते हुए कुमी को जेल के सीख़चों के पीछे छोड़कर आये हैं जहाँ की कशमकश उसे अपनी तरफ़ खींच रही थी। सभी के दिल भरे हुए थे, सब अपने दिल की गहराइयों में महसूस कर रहे थे, कुमार भी, कि मुमकिन है यह मिलना एक बहुत लंबे अरसे के लिए आख़िरी मिलना हो, मगर तब भी किसी के दिल में ग़म का एक भी स्याह धब्बा नहीं था। सभी, कमोबेश, इंक़लाब की कसमसाहट को अपने ख़ून की रवानी में महसूस कर रहे थे और समझ रहे थे कि हज़ारहा साल की भूख और ग़रीबी और जहालत को दूर करने के लिए जो क़ीमत चुकानी पड़ेगी वह मामूली न होगी और बग़ैर ख़ून से सींचे इंक़लाब का बिरवा लहलहा नहीं सकता। यही तो हो रहा है। सबको आगे-पीछे यही करना है। यही नयी ज़िन्दगी के मेमार हैं। उन्हीं की यह एक छोटी-सी कहानी है।

'बिखरे हुए कुछ केशाग्र, अग्नि की शिखा की तरह हवा में काँपते हुए...
वह आज बक्सा के कँटीले तारों के पीछे कैद है और हवा में प्रतिहिंसा की
लपटें काँप रही है।'

बक्सा के एक शेर के नाम

प्यारे सुभाष,

क्यों ? चौंक गये ? बक्सा कैम्प में यह आवाज कहाँ से आयी ? कँटीले तारों को पलास से काटकर यह आवाज तुम तक कैसे पहुँची ? बक्सा कैम्प में—जहाँ तुम रक्खे इसीलिए गए हो कि किसी की आवाज़ तुम तक न पहुँचे और तुम्हारी आवाज़ किसी तक न पहुँचे, तुम्हारी आवाज़ कुँए में घुटकर मर जाये और हमारी आवाज़ रेगिस्तानों में खो जाय !

मगर सुभाष, आवाज क्या कभी खोती है, आवाज़ क्या कभी मरती है ?! तुम्हारी आवाज क्या मुझ तक नहीं पहुँचती ? दुत् पगले ! यह देख मेरी आवाज तुझ तक पहुँच रही है । आवाज़ किसी की क़ैद को नहीं मानती । आवाज का काम ही है हवा को चीरना, वह हवा कितनी ही भारी क्यों न हो । आवाज तो पत्थर के सीने से भी टकराती है तो उसमें गूँज पैदा होती है, और हमारी आवाज तो फिर पत्थर के सीनों से नहीं, इन्सान के सीनों से टकरा रही है जिनमें दर्द है और ग़ुस्सा है । इधर भी और उधर भी और जिधर भी . . .

बक्सा दार्जिलिंग के पास एक कंसेन्ट्रेशन कैम्प है जो लड़ाई के दिनोंमें अंग्रेजों ने जापानियों के लिए बनाया था । अब बंगाल सरकार प्रान्त भर के कुछ चुने हुए सियासी क़ैदियों को वहाँ ले जाकर बन्द कर रही है । पत्र के सुभाष से मतलब बँगला के तरुण कवि सुभाष मुखोपाध्याय से है ।

मैं तुम्हें बतला नहीं सकता सुभाष, कितने ज़ोर से मेरा जी चाह रहा है कि तुम्हें बाँहों में भरकर सीने से लगा लूँ और इतने ज़ोर से दबाऊँ इतने ज़ोर से दबाऊँ . . . पर यह भला मुमकिन है ? हमारे बीच सैकड़ों मील के पत्थर खड़े हैं और हजारों कँटीले तार, जो तुम्हारी और मेरी आज़ाद रूह को क़ैद करने के लिए बिछाये गये हैं। हमारे ये फूहड़ जेलर, इन्हें कुछ तमीज़ नहीं, किसी चीज़ का कुछ पता नहीं, रूहें अगर क़ैद की जा सकतीं तो आदमी गुफाओं से निकल कर यहाँ तक न पहुँचा होता, वह आज भी महज़ गोरिला होता ।

हमारे पिता आदम ने बग़ावत की थी जिसकी कि उसे सज़ा मिली। हमने भी आज़ादी और समाजवाद के 'निषिद्ध फल' को चखने का साहस किया है। इसी की तुम्हें भी सज़ा मिली है । मगर यह सज़ा उस फल के स्वाद को तो हमारे मुँह से नहीं अलग कर सकती ? अगर कर सकती तो सलेम के हमारे बहादुर सिपाही और तेलंगाना के हमारे बहादुर छापेमार और दमदम के हमारे वीर क्रान्तिकारी पटेली गोलियों की अन्धाधुन्ध बरसात में भी, लाख थपेड़ों के बीच, लाल झण्डा अपने मज़बूत हाथों में थामकर न खड़े रहते, वह झण्डा उनके हाथ से छूटकर गिर जाता मगर वह छूटा नहीं, गिरा नहीं ।

मैं तुम्हें देख नहीं सकता मगर मेरे मन की आँखें देख रही हैं और कह रही हैं कि कई रात जागे हुए तुम्हारे चेहरे का फ़ौलाद अब भी वही है, मोटे-मोटे शीशे के तुम्हारे चश्मों के पीछे तुम्हारी आँखों में अब भी वही आग है जो लपट नहीं है पर जो सदा धीमे-धीमे सुलगा करती है ।

यह तुम्हारे हाथ-पैर हर वक़्त फड़कते क्यों रहते हैं, उन्हें ज़रा तो चैन लेने दिया करो, यह हर वक़्त की जल्दी और बेचैनी कैसी, यह हर वक़्त

तुम्हें कहाँ पहुँचना रहता है, ज़रा तो दम ले लो, एक मिनट को चुप करके बैठ जाओ तो मैं तुम्हारी तसवीर उतारूँ—मगर मैं तुम्हारी तसवीर उतारूँ कैसे, तुम हर वक़्त हिलते जो रहते हो, फ़ोकस बिगड़ जाता है, मेरा क्या ख़ुद तुम्हारी तसवीर धुंधली-धुंधली आयेगी ! मेरी बड़ी मुसीबत है, मैं कोशिश करने पर भी एक मिनट के लिए भी तुम्हें शान्त और निश्चल रूप में ध्यान में नहीं ला पाता। कभी तुम मुझे एक छोटे से पहाड़ी झरने की तरह लगते हो, कभी एक चटुल मछली की तरह और कभी एक हिरन की तरह जो कुलाँच जब नहीं भी भर रहा होता तब भी उसके पैरों में और कानों में और आँखों में एक बिजली-सी दौड़ती रहती है जो बतलाती है कि कुलाँच के थम जाने को विश्राम समझ लेना भूल है, विश्राम तो प्रकृति का नियम नहीं है तो मेरा ही क्यों हो—गति, अबाध गति, अविश्रान्त गति, बस गति, शुद्ध गति।

यह समझ लो कि मैं तुम्हारा आइना हूँ और तुम मेरे सामने खड़े हो या यों कह लो कि मैं तुम्हारे सामने खड़ा हूँ।

साँवला-सा, मँझोले क़द का, शायद सूत-दो-सूत ज्यादा आदमी, लम्बा-सा चेहरा, गाल की हड्डियाँ काफ़ी उभरी हुई, आँखों पर ज्यादा पावर का काली डण्डी का चश्मा ! (क्योंकि, सब कहते हैं, तुम्हारी आँखें बहुत कमज़ोर हैं गो मैं इस बात को नहीं मानता क्योंकि तुम्हारी आँखें अगर कमज़ोर होतीं तो भला तुम इतनी दूर तक भविष्य को कैसे देख पाते ?) चश्मे के पीछे एक जोड़ा बहुत तरल-सी आँखें, अजब कुछ पानी सा उन आँखों में जो पानी नहीं है। किसी गहरे सोच और दर्द में डूबी हुई-सी आँखें जिनमें, बात करते-करते शायद आवेग के कारण, कभी-कभी एक चिनगारी-सी चमक जाती है। स्थिर, निर्निमेष दृष्टि। रूखे-रूखे बाल मगर रूखे होने पर भी ढंग से जमे हुए, जो तुम्हारे चेहरे के साथ बहुत अच्छा

मेल खाते हैं। असाधारण पतले-पतले, कुछ स्याही लिये ओंठ, शायद सिगरेट के कारण। ज़रा लंबी सी मगर ख़ूबसूरत ठुड्डी। बहुत खबसरत्त लंबी, उठी हुई नाक, एकदम साँचे में ढली हुई। दुबला दुबला सा हाथ मगर कमज़ोर नहीं। समूचे चेहरे पर अजीब एक सौम्यता, शांति, दृढ़ता, स्नेह-ममता-सहानुभूति पता नहीं क्या क्या। उम्र तब जब की मुझे तुम्हारी आख़िरी याद है, यही तेइस-चौबीस, अब तीस के आसपास (मुझे याद है एक रोज़ तुमने कहा था कि तुम मुझसे साल भर बड़े हो)..पहनावा, पूरे बाँह की टेनिस कालर की क़मीज़ और धोती, पैर में पेशावरी, हाथ में कोई किताब या झोला या पोर्टफ़ोलियो जिसमें दुनिया भर के तमाम काग़ज़ात। आवाज़ बहुत मीठी-सी, सुरीली, भोले बच्चे की-सी और चेहरे पर भी वैसा ही बच्चे जैसा भोलापन, शैशव।...(मगर यह मैं तुम्हारी कैसी तसवीर खींच रहा हूँ, तुम मेरी प्रेयसी तो हो नहीं...मगर मैं क्या करूँ, तुम्हारी यही तो तसवीर मेरे मन पर अंकित है और मैंने अभी अभी अख़बार में तुम्हारा नाम उन राजबंदियों की सूची में देखा है जिन्हें बक्सा कैंप ले जाया गया और तभी से तुम्हारा यही चित्र बरबस मेरी आँखों में उछल-उछल आ रहा है...वज्रकठोर, कुसुम-कोमल !)

मुझे कुछ याद नहीं है कि मेरा तुमसे कब किस रोज़ परिचय हुआ...वह स्मृति इन घटना-संकुल वर्षों के कुहरे में एकदम खो गयी है। बस वर्ष और महीना याद है। सन् बयालिस, दिसंबर, दिसंबर का आख़िरी सप्ताह। कलकत्ता विश्वविद्यालय का इंस्टीट्यूट हाल। उसकी खचाखच भीड़। फाशिस्त-विरोधी लेखकों का सम्मेलन। मैं भी उस सम्मेलन में हिस्सा लेने गया था। वहीं, उन्हीं गलियारों में, पहली बार किसी से तुम्हारा नाम सुना। उस समय मुलाकात नहीं हुई। तुम सम्मेलन के कामों में बुरी

तरह व्यस्त थे, तुम और चिनू* । फिर कब कहाँ मुलाकात हुई, किसी ने करायी या अपने-आप हो गयी, कुछ याद नहीं पड़ता । मुझको तुम्हारी सब से पहली जो याद है वह है : जाड़े की उस चाँदनी रात में बारह एक बजे के क़रीब, जब कि ट्रमें वग़ैरह चलना कभी की बन्द हो चुकी थीं, हम लोग कहीं से कहीं चले जा रहे थे, कहाँ से कहाँ यह भी याद नहीं, शायद किसी मीटिंग से लौट रहे थे, चाँदनी ख़ूब छिटकी हुई थी, छः सात दस आदमियों के इस गुच्छे को छोड़कर सड़कें निचाट सूनी थीं और पत्थर की आलीशान हवेलियाँ खड़ी खड़ी सो रही थीं मगर चाँदनी ने अपने जोबन का जादू उन पर भी बिखेर दिया था और पत्थर के महल ओस के महल हो गये थे . . . और हम लोग हाथों में हाथ डाले, हँसते और बातें करते चले जा रहे थे। पता नहीं हम लोग कितनी देर और कितनी दूर तक ऐसे ही चलते चले गए और फिर पता नहीं कहाँ पहुँचकर हम दोनों एक ही बिस्तर में सो गए . . .

तुम्हारी दूसरी याद है मुझे उस रोज़ की : भवानीपुर में शंभुनाथ पंडित स्ट्रीट पर सबेरे नौ बजे, तेज़ धूप और तुम बहुत से कागज-पत्तर लिये, कहीं जाने की जल्दी में . . . दस पन्द्रह मिनट की वह मुलाक़ात । उसी रात कलकत्ते पर पहली बार जापानी बम गिरे थे। (चाँदनी रात सिर्फ़ कवियों को नहीं भाती, बममारों को भी बहुत भाती है । लाखों भौंरों की गूंज के साथ दूर आसमान में उड़ते हुए हवाई जहाज़, अपनी कोख में लोगों की मौत की गठरियाँ सँभालकर रक्खे हुए, उनकी दुम में चमकती हुई एक लाल रोशनी जिससे ही उनकी गति का पता चलता है, फिर कहीं बम गिरने की प्रचंड 'घुम्म' सी आवाज़, फिर दूर-दूर तक की दीवारों का हिल उठना और खिड़कियों का खड़खड़ाना) क्लाइव बिल्डिंग के पास जो बम गिरा था, शायद उसी की बरबादी को देखने तुम जा रहे थे । तुम उन दिनों ए० आर०

---

* चिन्मोहन शेहानवीस—प्रमुख प्रगतिशील आलोचक व संगठक ।

५

पी० में काम करते थे, हवाई हमले से लोगों को बचाना, उनके शरीर पर और उनके मनोबल पर आँच न आने देना, यही तुम्हारा काम था और मित्रों से मैंने सुना था कि तुम एक सच्चे सैनिक की तरह अपनी चौकी पर डटे रहते थे। उन्हीं दिनों कई रोज तक लगातार कलकत्ते पर बम गिरते रहे थे और लोगों में भगदड़ मच गयी थी। उन दिनों फिर कई रोज मेरी तुमसे मुलाक़ात नहीं हुई, तुम अपने काम में बहुत व्यस्त थे। तुम जी-जान से अपना काम करते थे, लोगों की प्रतिरोध-शक्ति को जगाते थे। इसीलिए तुम्हें ए० आर० पी० से निकाल दिया गया था—इसको भी मुझे याद है।

तुम्हारी तीसरी याद है मुझे उस रोज़ की जब रासबिहारी एवेन्यू में निखिल चक्रवर्ती के घर की बालकनी पर तुमने मुझे एक बँगला किताब दी थी और मुझसे पढ़ने को कहा था। मैंने पढ़ा था तो तुमने 'अमृतबाबू, आपनी तो खूब भालो पड़ेन' कहकर मुझे झूठमूठ दाद देते हुए मेरे 'होयेछे' के उच्चारण को ठीक किया था। तब से आज तक हजारों बार यह शब्द मेरे सामने आया होगा और हर बार, यक़ीन करो, हर बार मुझे इसके संग तुम्हारी याद आयी है और मेरी आँखों के सामने उस सबेरे का वह सारा दृश्य खिंच गया है। यहाँ तक कि इस समय भी जब कि यों देखने पर ऐसी छोटी बात का ज़िक्र करना ज्यादती मालूम होती है, मुझे यह बात भूली नहीं है और सो शायद इसलिए कि उस ज़री-सी बात से मुझे तुमको समझने में मदद मिली है, मेरे नज़दीक वह भी तुम्हारे अनायास सौहार्द और स्नेह का एक दीप है।

तुम्हारी चौथी याद मुझे है दो-तीन बरस बाद की, ८ ई डेकर्स लेन में, 'स्वाधीनता' के दफ़्तर में, काम की मेज़ पर और फिर वहाँ से उठकर पास के ही एक रेस्तोराँ में चाय की प्याली के इर्द-गिर्द......और बस।

यादें बस इतनी ही।

फ़िलहाल तो तुमसे मन का तार जोड़ने का सिर्फ़ एक ज़रिया है मेरे पास—तुम्हारी दो पतली-पतली-सी कविता-पुस्तिकाएँ जिनमें से एक पर तुम्हारे अक्षर हैं : 'पदातिक' और 'अग्निकोण'। उन्हीं के पन्ने उलट रहा हूँ और सोच रहा हूँ :

तुमने लिखा है—

जुलूस में देखा था एक मुख
एक मुष्टिबद्ध, सान धरा हुआ हाथ
आकाश की ओर फेंका हुआ;
बिखरे हुए कुछ केशाग्र
अग्नि की शिखा की तरह हवा में काँपते हुए
मैदान के तूफ़ानी जनसमुद्र की फेनिल लहरों में
मिल जाने पर भी
फ़ास्फ़ोरस की तरह जलता और चमकता रहा
जुलूस का वह मुख।

सुभाष, मुझे कहने दो कि वह मुख तुम्हारा ही है और उसे मैंने जुलूस में नहीं अकेले में देखा था, कलकत्ते की एक सड़क पर और वह आज भी जीवन के मैदान के तूफ़ानी जनसमुद्र की फेनिल लहरों में मिल जाने पर भी मेरी आँखों के सामने फ़ास्फ़ोरस की तरह चमक रहा है। मैं फिर कहता हूँ कि वह मुख किसी और का नहीं तुम्हारा ही है।

और वह आज बक्सा के कँटीले तारों के पीछे क़ैद है और हवा में प्रतिहिंसा की लपटें काँप रही हैं। तुमने लिखा है :

प्रतिहिंसा के पंख फड़फड़ा रहे हैं ।
पेराक में पेनांग की टीन की खानों में
रबर के जंगलों में
मसाले के द्वीपों में
सोना फलाने वाली इरावती के दोनों ओर की घाटियों में,
जावा में
नीलकान्त मणि की दीप्ति वाले देश
श्याम में कम्बोज में
अनामी पहाड़ों में
मेकङ् नदी के तूफ़ानी पानी में
नींद त्याग कर जाग रहा है
अग्निकोण का मनुष्य

और

दिन आ गया है भैया
ख़ून का बदला ख़ून से लेने का
और दिन आ रहा है भैया
हँसिये से नयी फ़सल काटने का

अभी तो

दुधमुंहे बच्चों को छाती से चिपकाकर
मर रहे हैं
सैकड़ों गाँवों और शहरों के अग्निकोण के मनुष्य
उसी अग्नि में वंचितों का दिगंतव्यापी जुलूस

अपना पथ पहचान रहा है
रक्त रक्त से भींग रहा है लाल निशान
जंगलों में जलों में पहाड़ों की गोदों में
फड़फड़ा रहा है प्रतिहिंसा का पंख

इसी से

बैरक-बैरक में विद्रोही सेना जाग रही है। अस्त्रागार का द्वार खोलकर जनता के पास आकर खड़ी हो रही है। लाख-लाख पैरों की आवाज से धरती काँप-काँप उठती है। लाख-लाख हाथ अन्धकार को दो टुकड़ा कर रहे हैं। अग्निकोण का मनुष्य बादलों को चीर कर सूर्य को ला रहा है। करोड़ों कण्ठों की आवाज से वज्र के भी कान बहरे हो रहे हैं। आग से नष्ट खेतों में बसन्त जाग रहा है।

और तुम कहते हो कि उन्हीं के लिए

लिखी जायगी एक कविता
उसी अनजान आदमी के लिए
जो दीवारों पर चिपका देता है
अनागत एक दिन की घोषणा
जो मृत्यु-भय को फाँसी पर लटकाकर
जुलूस में आगे बढ़ता है;
आकाश वातास उसके गान से गर्जन से
मुखरित होता है
और उसके नखदर्पण में अंकित रहती है
नयी पृथ्वी, अजस्र सुख, असीम प्यार।
उसके लिए लिखी जाय एक कविता।

उसी के लिए तुमने लिखा है सुभाष, और उसी की डोर पकड़ कर मैं तुम्हारे पास पहुँच गया हूँ।

तुम्हारा वीर घोष मेरे कानों में पड़ रहा है:

एक और बसन्त
अग्निवर्ण संग्राम की प्रतीक्षा कर रहा है।
और हम गलितनख जरा-जर्जरा पृथिवी पर
छोड़ जायेंगे संक्रामक स्वास्थ्य का उल्लास।

× × ×

जीवन के पेयेछि आमरा विद्युत् जीवन के।

जीवन को, विद्युत् जीवन को तुमने पाया है, उसका रस तुम्हें मालूम है, तभी तो तुम कहते हो :

जे देबे प्राण, जीवन देबे
वरमाल्य ताके

मेरे प्यारे सुभाष, तुम दे रहे हो प्राण, दे रहे हो जीवन, वरमाल्य तुम्हें।

'वही अवाम जो जल्लाद गोरी सल्तनत के मनहूस साये को नेस्तोनाबूद करेंगे इन पर्दों को भी तोड़कर गिरा देंगे और ये नकली दूरियाँ मिट

ज़िन्दगी का ख़िराज

सईदा,

अभी नंदिनी से मालूम हुआ कि तुम्हारा हिन्दुस्तान आना खटाई में पड़ रहा है। यहाँ तुम्हारे घर पर सब लोग तुम्हारे लिए बेक़रार हैं और उस घड़ी को कोसते हैं जब तुम कराची गयीं। अम्मी की तबीयत ख़ासी ख़राब है और गो उनके जीवट में ज़ाहिरा अभी कोई कमी नहीं आयी लेकिन अंधा भी अगर उनसे छन-भर बात कर ले तो इस चीज़ को देख लेगा कि उन्हें अब किसी साथी की हर लमहा ज़रूरत है। अपनी देखभाल भी अब उनके किये नहीं होती, उम्र भी नहीं रही। आज मैं उनके पास गया था। उनके सफ़ेद बालों और हड्डी के ढांचे को देखकर मुझे तुम पर बहुत ग़ुस्सा आया सईदा।

...लेकिन मैं जानता हूँ कि तुम पर ग़ुस्सा करना बेमानी है। तुम्हारे ख़त से ज़ाहिर है कि तुम ख़ुद यहाँ आने के लिए कितनी बेचैन हो, तुम्हारा बस चले तो शायद पंख लगाकर उड़ आओ। मगर तुम कर ही क्या सकती हो, तुम भी तो मजबूर हो। गयी थीं तुम महीने-भर को और आठ महीने से ऊपर हो गया जिसमें तीन महीने से तो तुम्हारी लिखा-पढ़ी ही चल रही है—पता नहीं, दफ़्तरों की ज़मींदोज़ घाटियाँ दर घाटियाँ पार करके तुम्हारी अर्ज़ी कब किनारे लगेगी। अरे किसने जाना था कि वही कराची जिससे लोग हफ़्ते में चार मर्तबा आते-जाते थे, दुनिया के

परले छोर से भी ज्यादा दूर हो जायगा। और किसे मालूम था कि दिलों की जिस दूरी ने बरबादी और ग़ारतगरी के ढोल-ढमाके के साथ इस नयी हुकूमत को जनम दिया, वह दूरी इतनी नातमाम है—तीन रोज़ के भूखे आदमी के दिन की तरह—इतनी नातमाम कि हमारी बहन हमारे पास आ नहीं पाती गो हम लोग इतनी शिद्दत से उसे यहाँ चाह रहे हैं और वह यहाँ आने के लिए उतनी ही शिद्दत से पिंजरे में बंद चिड़िया की तरह छटपटा रही है मगर आ नहीं पाती गो वही दिल्ली है और वही कराची। फ़र्क़ सिर्फ़ यह है कि दोनों के दरमियान एक मरता हुआ साम्राज्य टेढ़ा-मेढ़ा हो कर लेट गया है और दूरियाँ निराशा की घाटी की तरह लंबी और स्याह हो गयी हैं......

२

तुम्हें याद है सईदा, उन्हीं दिनों जब मैं तुम्हारे पास रहता था, एक रोज़ तुमने मुझसे पूछा था—क्या अब यह मुल्क जिसका सिर और धड़ अभी-अभी हलाक किये गये बकरे की तरह ज़मीन पर तड़प रहा है, फिर कभी जुड़ेगा नहीं? यह बँटवारा क्या हमेशा-हमेशा के लिए हो गया हरीश?

मैंने कहा था—अभी इस सवाल का जवाब देने का वक़्त नहीं आया सईदा!

तब तुमने पूछा था—कब आयेगा वक़्त?

मैंने कहा था—वक़्त आयेगा तब जब कि हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दोनों जगहों के अवाम उस अफ़ीम और चंडू के नशे से बाहर आयेंगे जो उन्हें आज के उनके नेता सोते-जागते, उठते बैठते, चौबीसों घंटे पिलाते रहते हैं, जब उनकी आँखें खुलेंगी और वह देखेंगे कि उनके नेताओं ने हिन्दू और मुसलमान जनता की रोटी और आज़ादी की मिली-जुली लड़ाई को ख़त्म

करने के लिए, जनता के ख़ून से पैसा निचोड़ने की कुछ सहूलियतें हासिल करने के लिए दुश्मन के हाथ अपने को बेच दिया है।

मुझे याद है तुमने मेरी बात का बहुत विश्वास न करते हुए, कुछ संशय के स्वर में कहा था : तुम्हारा तो हर वक़्त बस एक ही राग है, वही कम्युनिज्म।

मैंने भी तुम्हारी बात से थोड़ा चिढ़कर ही कहा था : सईदा, यह मेरा कम्युनिज्म नहीं, ज़माने की सब से बड़ी हक़ीक़त है। आज हम इतिहास के उस दौर से गुज़र रहे हैं जब हर छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सवाल का जवाब सिर्फ कम्युनिज्म दे सकता है, जब मोलोतोव के अल्फ़ाज़ में हर रास्ता इंसान को कम्युनिज्म की तरफ़ ले जाता है . . .

आज मुझे ये तमाम पिछली बातें बार-बार याद आ रही है और वह शायद इसलिए कि तुम्हारी बहुत याद आ रही है और तुम मेरे पास आ नहीं सकती हो क्योंकि हमारे दरमियान नक़ली दूरियाँ हायल हैं जिनके लिए ये मुट्ठी-भर नेता ज़िम्मेदार हैं जिन्होंने मुल्क का सौदा किया, जिन्होंने देश के टुकड़े किये, लाखों इंसानों का ख़ून जिनके हाथ में लगा है, लाखों घरों की तबाही और बरबादी के धुएँ से जिनके बगुले के पर की तरह सफ़ेद कुर्ते स्याह और मटमैले हो रहे हैं। ये वही नेता हैं जो जनता की रोज़ी और रोटी के दुश्मन हैं, रामराज्य और अवाम की आज़ादी जिनके मुंह की एक फुलझड़ी है, जो इंक़लाब से मौत की तरह डरते हैं क्योंकि इंक़लाब उनकी मौत है, जिन्होंने जहाज़ियों की बग़ावत में ज़माने की नयी करवट और अपनी मौत देखी और उसी से डरकर, क्योंकि मौत से सभी डरते हैं, मुल्क की पीठ में छुरा भोंक दिया और भोंककर उसे क़साई की तरह ऊपर से नीचे तक खींच दिया और फिर अपने ही ख़ून की नदी में तैरते

हुए, तड़फड़ाते हुए दोनों टुकड़ों को दिखा कर कहा ; यह लो, यह रही तुम्हारी आजादी, इसे सँभालो . . .

. . . उन्हें अपने सौदे की आपाधापी में भला इस बात की कहाँ फ़ुरसत थी कि एक पल को जरा रुक कर वह यह तो देख लेते कि जो चीज वह लोगों को सँभालने के लिए दे रहे थे वह महज एक लाश थी जिसे सिर्फ़ मुर्दाफ़रोश सँभाल कर रखते हैं। इसका तो खैर जिक्र ही छोड़िए कि वह यह देखते कि उनके छुरे ने घाव कितना गहरा किया है। काश कि उन्होंने ऐसा किया होता ! तब उन्हें मालूम हो जाता कि उनके छुरेने सिर्फ़ जमीन को चाक नहीं किया है बल्कि लाखों इंसानों के जिस्म को भी चाक कर डाला है, वह सभी जिस्म जिनमें पिन चुभाने से दर्द होता था, लाखों अस्मतों को चाक कर डाला है जिनसे जिन्दगी की जीनत थी, लाखों कुनबों को चाक कर डाला है जिनसे दुनिया दुनिया थी, हर घर को चाक कर डाला है—खुद तुम्हारे घर को चाक कर डाला है सईदा, तुम्हें यह बतलाने की जरूरत नहीं है। तुम्हारी अम्मी आज बीमार हैं, उन्हें तुम्हारी ऐन जरूरत है, तुम उनके पास पहुँचना चाहती हो, मगर . . .

अनवर भैया को ताजिन्दगी इस बात का दर्द रहेगा कि वह क्यों घर के लोगों को छोड़ कर कराची गये जब उनके लिए यह भी नामुमकिन हो जाना था कि वह दम तोड़ते हुए अब्बा को तो एक बार देख लेते। उनके कलेजे पर अब छुरियाँ चलती हैं जब कोई उनको बतलाता है कि आखिरी वक़्त तक अब्बा के लबों पर उन्हीं का नाम था . . . मगर खैर, वह बात भी अब आयी-गयी हो गयी। लेकिन सईदा, सच पूछो तो ये बातें ऐसी हैं जो कभी आयी-गयी नहीं होतीं, जो इंसान को चैन नहीं लेने देतीं, जो कभी-कभी सोते से भी चौंका कर जगा देती हैं . . .

३

अभी मैं तुम्हारे घर से आ रहा हूँ सईदा—जो तुम लोगों के बिना अब एकदम सूना और बेजान पड़ा है। सारे मकान पर जैसे किसी सूनेपन के देवता का राज हो । वह बड़ा-सा हाता, वह लंबे-लंबे बरामदे, वह बड़े-बड़े हॉल, वह बड़ा-सा पक्का आँगन, सब ऐसे थिर हैं जैसे कोई डरावनी चीज़ देखकर सहम गये हों। माघ के कुहरे की तरह गहरा अकेलापन घर पर छाया हुआ है, जैसे मरघट के स्याह पंछी मकान पर घिर आये हों और उनसे फ़िज़ा में मौत तैर गयी हो। अब्बा जिस हिस्से में रहते थे—उसकी तो खैर बात ही छोड़ो। बेहतर हो कि उतने हिस्से को गिरवा ही दिया जाय और यों तो सारे मकान को मिस्मार कर देने में भी कोई खास बुराई नहीं है ! ये बरामदे, ये कमरे, यह आँगन, ये रविशें कभी हमारे क़हक़हों से गुलज़ार थीं, इस आँगन में चाँदनी रातों में हम लोग कभी-कभी पाँच-पाँच, छः-छः घंटों तक लगातार बैठे बकबक करते रहे हैं, यहाँ की वहाँ की सारे जहान की बातें—बिलकुल बेतरतीब—चुटकुले भी और ज़िन्दगी की राह को मोड़ देने वाली गंभीर बातें भी। घंटों चलने वाली हमारी वे बातें जिनसे किसी का जी नहीं भरता था, न मेरा, न तुम्हारा, न रशीदा का, न अनवर भैया का, न नंदिनी का। अपने ख़त में उन दिनों की याद दिला कर तुमने अच्छा नहीं किया। यह नहीं कि मुझे याद नहीं थी। थी, आखिर पिछले साल इन्हीं दिनों तो मैं तुम्हारे घर पर था। बात-बात पर वे दिन मेरी आँखों में फिर जाते हैं; लेकिन फिर भी मैं कहूँगा कि तुमने वह ज़िक्र छेड़कर अच्छा नहीं किया।. . .मगर तुम और करतीं भी क्या, तुम्हें तो उन दिनों की याद और भी सताती होगी, इसीलिए कि तुम घर से इतनी दूर हो, इतनी ऽ ऽ ऽ दूर। हम लोगों के वह दिन कुछ ऐसे-वैसे न थे, जो इतनी आसानी से भूले जा सकें। वह फूल, वह क़हक़हे, वह ओ डि कोलोन से बसे हुए कमरे, वह मधुमालती की घनी-घनी लताएँ

और साँझ होने पर उनकी भीनी-भीनी ख़ुशबू, वह मीर और ग़ालिब और मोमिन के तड़पते हुए दीवान जिनमें न जाने कितने पुराने ज़ख़्म महक उठते हैं. . .यह मुनासिब है सईदा कि तुम्हें भी उन दिनों की याद बराबर आये. . . . . .

. . .मगर सईदा, यह पीछे मुड़-मुड़कर देखना ज़िन्दगी का उसूल नहीं है, दिन जो गुज़र जाता है उसे फिर कोई वापस नहीं ला सकता। यह है कि मन का पंछी बारबार उड़-उड़ कर उन पिछली बातों की तरफ़ जाता है लेकिन वह ठीक नहीं, उसके पंख कतर देने चाहिए, तकलीफ़ भी हो तब भी कतर देने चाहिए, क्योंकि यही ज़िन्दगी का तक़ाज़ा है। आदमी की आँखें पीठ पर न हो कर चेहरे पर जो हैं वह इसीलिए कि वह अपनी आँखों के आगे फैली हुई राह को देखे और उस पर पैर बढ़ाये और बढ़ाता चला जाये, वहाँ तक जहाँ तक कि उसकी मंज़िल न आ जाय या ख़ुद रास्ता ही न ख़त्म हो जाय। . . .मगर सईदा, किसी रोज़ शहर के बाहर किसी सूनी सड़क पर चलकर देखना यह रास्ता तो वहाँ तक चला गया है जहाँ ज़मीन आसमान को चूमती है या यों कहो कि जहाँ आसमान धरती पर उतर आता है। वही समझो मंज़िल का आख़िरी पड़ाव है। पैर लगातार उसी तरफ बढ़ते रहने चाहिए और आँखों को चाहिए कि पैरों को रास्ता दिखायें. .

. . .मुमकिन है मेरी ये बातें तुम्हें कुछ कठोर लगें। शायद तुम यह भी सोचो कि देखो कैसा बदमज़ाक़ आदमी है, कैसी फटी-फटी बातें करता है। मगर सईदा, मैं तो पुराना बदमज़ाक़ आदमी हूँ, तुम तो सदा ही मुझको 'प्रोज़'* कहा करती थीं, एकदम रूखा-सूखा, किसी भी शायराना जज़्बे से एकदम ख़ारिज !

* गद्य

...और अब तो और भी हो गया हूँ जबसे अपने रहने की इस नयी जगह पर आया हूँ जहाँ ओ डि कोलोन की खुशबू नहीं है, जहाँ मधुमालती की लताएँ नहीं हैं, जहाँ ओ डि कोलोन की जगह पसीने और बीड़ी की मिली-जुली बदबू ने ले ली है और जहाँ मधुमालती की जगह बेर की कँटीली झाड़ियाँ हैं जिनके साये तले ज़िन्दगी एक हर वक़्त की चुभन का नाम है, जहाँ अग़ल-बग़ल चौबीसों घंटे गधों का रेंकना ही वह अकेला संगीत है जो मेरे कानों में मिसरी घोलता है !

यह मेरे एक मज़दूर साथी का घर है जहाँ मैं एक छोटी-सी कोठरी में ख़ुद अपने आपको क़ैदकर के रहता हूँ। अपना घर मुझे छोड़ना पड़ा क्योंकि 'आज़ाद' हिन्दुस्तान में अब खुले आम सच बोलना जुर्म क़रार दे दिया गया है। मेरे लिए अब संगी साथी फ़िलहाल कोई मानी नहीं रखते, दिन की रोशनी से मुझे डर लगता है, किसी के आने की हलकी-सी आहट से भी मेरे कान खड़े हो जाते हैं। फूल और संगीत से मुझे अब भी मुहब्बत है लेकिन फूल अब मुझे दूर एक बाग़ में उगे नज़र आते हैं और संगीत की कड़ियाँ दूर के किसी झरने के स्वर-सी मेरे कानों में आकर टकराती हैं—मुझे उनके पास पहुँचना है मगर वही पहुँचना असल पहुँचना होगा जब मैं फ़िक्रों और परीशानियों के मारे हुए उदास इंसानों की एक टोली के साथ उनके पास पहुँचूंगा, जब सब उन फूलों की ख़ुशबू से अपने नथनों को भर सकेंगे और जब संगीत सबकी बाँहों में और सबके पैरों में नया जोश और नयी हरकत भर सकेगा। फ़िलहाल तो सफ़र ज़रा कड़ा है, गो कड़ा से कड़ा सफ़र आसान हो जाता है अगर साथी अच्छे हों; पूरे वक़्त रात का सफ़र है लेकिन अगर विश्वास का दिया इंसान के भीतर बलता रहे तो अँधेरी राह भी हज़ारों सूरजों की रोशनी से जगमग नज़र आती है...

...और सईबा, मैं तुमसे कहना चाहता हूँ कि यह दिया मेरे भीतर बल रहा है और मेरे साथी बड़े अच्छे हैं। तुम लोगों के झकाझक सफ़ेद कपड़े अलबत्ता यहाँ पर नहीं हैं, यहाँ तो मुशकिल से कूल्हे तक पहुँचनेवाली क़मीज़ और घुटनों से ज़रा ही नीचे तक पहुँचनेवाली धोती है, जो मैली है और जिसमें कई पैबंद भी लगे हैं। ओ डि कोलोन की ख़ुशबू यहाँ पर नहीं है लेकिन वह ग़रीब इंसानियत, दूसरे के दर्द से गीली हो जाने वाली इंसानियत ज़रूर है जिससे मिट्टी या गीली घास की-सी सोंधी-सोंधी, ताज़ा ख़ुशबू निकला करती है।

मैं आजकल अपने जिस साथी के यहाँ हूँ वह सिर्फ़ तीस रुपये पाता है, आज के रोज़ तीस रुपये! पहले जहाँ काम करता था वहाँ पैंसठ मिलते थे लेकिन वहाँ से एक हड़ताल के सिलसिले में उसे निकाल दिया गया। तब से अब उसे कहीं कोई काम नहीं मिलता। पानीकल में काम करता था, अठारह बरस उसमें काम किया, दूसरा कोई काम भी नहीं सीखा, अब जाय कहाँ। प्रान्त के किसी भी शहर के पानीकल में अब उसे जगह मिलेगी, इसका ख़याल भी दिल में लाना बेवक़ूफ़ी है। मगर सिर्फ़ यही दरवाज़े उसके लिए बंद नहीं हुए हैं, उसे दूसरी किसी जगह भी कोई काम नहीं मिलता। जहाँ भी वह जाता है, उसके पहले उसकी 'कीर्ति' पहुँच गयी रहती है और सब जगह वही ठंडा-सा, टका-सा जवाब पहले से उसका इंतज़ार करता बैठा होता है—काम नहीं है!

...मगर यह कोई ख़ास बात न थी, बस यह था कि मालिकों ने आपस में साँठ-गाँठ कर ली थी। मालिक तो उससे ऐसा डरते हैं जैसे वह कोई ताऊन हो...मगर वह ऐसा कुछ भी नहीं है। बहुत सीधा-सा मगर दानिशमंद, साफ़ दिल का, निडर आदमी है—जिस पर भरोसा किया जा सकता है। अपने साथियों के लिए, इंक़लाबी मज़दूर आन्दोलन के

लिए, ज़रूरत पड़ने पर, वह अपना सिर भी उतार कर दे सकता है। पैसा देकर उसे ख़रीदा नहीं जा सकता, संगीन दिखा कर उसे डरवाया नहीं जा सकता।

...मगर ख़ैर, उसका इस वक़्त कोई ज़िक्र नहीं है। अभी ज़िक्र इस बात का है कि आज के रोज़ जब रुपये का एक सेर चावल मिलता है और दो सेर गेहूँ, जब डेढ़ रुपये सेर भी चीनी के दर्शन नहीं होते, जब एक जोड़ा कपड़ा, धोती-कुर्ता, दस रुपये में तैयार होता है तब उसे तीस रुपये महीने पर काम मिला है। भला कैसे इतने में दो जनों का पेट भरता! हाँ, उसकी गृहस्थी में केवल दो लोग हैं—वह और उसका ग्यारह-बारह साल का लड़का किसन, उसकी बीबी तो कभी की मर गयी जब यह किसन डेढ़ साल का था। रामफल ने फिर ब्याह नहीं किया गो तब उसकी उठान पर की उम्र थी और एक नहीं दस औरतें उसे बर सकती थीं। पर उसने ब्याह नहीं किया और बस इस किसनुआ को पाला—अपनी स्त्री की यादगार की तरह। उसी किसनुआ को जब वह अपने साथ नहीं रख पाया और जब उसे मजबूरी दर्जे किसनुआ को अपनी बुआ के घर भेजना पड़ा तो दो बड़े-बड़े गर्म आँसू उसकी आँखों से निकल आये। उसे लगा कि उसने अपनी बीबी की अमानत में ख़यानत की है, जैसे उसकी धरोहर को वह राह में ही कहीं गिरा आया है, वह धरोहर जो किसनुआ की माँ ने दम तोड़ते-तोड़ते उसके हाथ में सौंपी थी और डूबती हुई आवाज़ में कहा था: अब तुम्हीं इसकी माँ भी हो और बाप भी। देखना, मेरे किसन को कोई सताये नहीं...नहीं तो फिर मैं तुमसे पूछूंगी! और देखो, किसन को दूध-भात बहुत अच्छा लगता है...

...उसी किसन को वह दो जून रूखी रोटी भी नहीं दे सका, दूध-भात की तो बात ही छोड़ो...अब उसकी बुआ खिलाती होगी उसको दूध-भात,

वह उसको बहुत चाहती है. . .और मैं तो देखने गया नहीं, अच्छा ही होगा वहाँ, यहाँ से अच्छा ही होगा, मैं तो बुख़ार में भी उसे सिर्फ दो रोज़ दूध पिला पाया. . .

यह ख़याल जब उसे आता है तब एक हूक सीने से निकल जाती है मगर हूक से दूध का मसला तो नहीं हल होता। लिहाज़ा किसन का बाप उसे अपने संग नहीं रख पाता और वह अपनी बुआ के संग रहता है, आराम में कि तकलीफ़ में, रामफल को नहीं मालूम, क्योंकि साल-भर से उसने किसन को नहीं देखा, जा नहीं पाया, कुछ नौकरी की तलाश की व्यस्तता थी, कुछ स्वाभिमान ने भी रोका, कुछ यों भी हिम्मत नहीं हुई, पता नहीं कहीं किसन तकलीफ़ में हुआ तो? . . .

किसन रामफल की सब से बड़ी इंसानी कमज़ोरी है लेकिन इस कमज़ोरी ने उसके इंक़लाबी अमल को कमज़ोर नहीं किया है उल्टे और ताक़त पहुँचायी है। अपने साथियों को जगाना, उनके अंदर नयी चेतना भरना, उन्हें थैलीशाहों और उनकी हुकूमत के ख़िलाफ़ पूरी ताक़त से लड़ने के लिए उभारना उसकी जिन्दगी का एक ऐसा मक़सद हो गया है जिसे पूरा करने की धुन में वह दिन को दिन और रात को रात नहीं समझता, गोया वह उसके अंदर ही अंदर सुलगनेवाली एक आग हो जिसे वह चुल्लू भर-भर पसीने और ख़ून से बुझाना चाहता हो मगर उससे वह आग बुझने के बजाय और धधक उठती हो।

सईदा, तुमने रामफल को नहीं देखा है, इसलिए मुमकिन है तुम्हें मेरी बात में कुछ अतिरंजना दिखाई दे; लेकिन मैं उसके साथ रहता हूँ इसलिए जानता हूँ और इसीलिए मुझे यह समझने में ज़रा भी देर नहीं लगती कि क्यों रामफल की जमात, क्रान्तिकारी मेहनतकश जमात ही अंत तक इंक़लाब

का परचम आगे आगे लेकर चल सकती है, क्यों उस पर और सिर्फ़ उसी पर भरोसा किया जा सकता है, इतिहास की थाती को आगे ले जाने की ताकत उसके कंधों में कहाँ से आती है ?

वह ताक़त उसकी रीढ़ से आती है—उसके अन्दर अभी रीढ़ बाक़ी है। अपनी अन्तरात्मा को उसने बेचा नहीं है और न अपने साहस और संकल्प को। अपने हृदय की वेदना को वश में करना उसे आता है, वह मध्यम-वर्गीय बाबू कलाकारों और सामान्य बाबू गृहस्थों की तरह अपनी वेदना की कालिख से आसमान के पर्दे पर कुछ गोद जाने के मोह से पीड़ित नहीं है। इसीलिए वह अपने निजी दुःख के बड़े-बड़े ग़स्से निगलकर लड़ाई के मैदान में ऐसे खड़ा रहता है कि माथे पर एक शिकन नहीं, चेहरा एकदम शान्त, दृढ़। रामफल की जिन्दगी पर ज़रा थम कर ग़ौर करो सईदा, तो मालूम होता है कि उसमें दर्द कुछ कम नहीं है, लेकिन वह दर्द क्या अफ़ीम बन कर उसके दिमाग़ पर छा सका? उसके हाथों और पैरों को सुला सका? उसके ख़ून में मौत बन कर तैर सका? नहीं।

और यही इंसानियत की असल कसौटी है, सईदा! अपने नन्हें-मुन्ने दुःख के गोपद में डूबना-उतराना कुछ ख़ास मुशकिल काम नहीं है, न उसके लिए शेर का कलेजा ही चाहिए। शेर के कलेजे का काम पड़ता है वहाँ जहाँ अपने दुःख की नीली लौ से अपनी और अपने साथियों की कँटीली और कंकरीली राह को रौशन करना पड़ता है, जहाँ इसी नीली लौ में, राह के किनारे पड़ी हुई अपने साथियों की लाशों और अपनी जवान उमंगों की लाशों को पहचानना पड़ता है, जहाँ इसी नीली लौ से अपने दिल की भरी-पूरी बस्ती को आग लगा दी जाती है ताकि नयी दुनिया आबाद हो, जहाँ इसी नीली लौ के धुंधलके में तलवारें चलती हैं। यह काम वही कर

सकता है सईदा, जिसके अंदर इंसानियत का गुलाब अभी कुम्हलाया नहीं है, जिसके अंदर इंसानियत का सूरज अभी डूबा नहीं है।

एक रोज़ तुम कराची की शानो-शौकत से बाहर शहर के उस हिस्से में जाओ जहाँ ग़रीबों की बस्ती है, उन ग़रीबों की नहीं जो तुम्हारी भीख के टुकड़ों पर पलते हैं बल्कि उन ग़रीब मेहनतकशों को जो अपनी ग़रीबी का कारण जान गये हैं, जो हज़ार नक़ाबों के बीच भी अपने दुश्मन को पहचान गए हैं, जो रोज़मर्रा की अपनी लड़ाइयों में अपने हथियारों को माँज रहे हैं और फ़ौज की तरह एक साथ क़दम उठाना सीख रहे हैं, वह सभी क़दम जो एक साथ इंक़लाब की तरफ़ बढ़ रहे हैं। उस फ़ौज में जब तुम घुसोगी तो देखोगी कि वह रामफल के ज़ात-भाइयों की ही फ़ौज है और उसमें का रहमान रामफल का ही सगा भाई है क्योंकि इंक़लाबी मज़दूर जमात ही दोनों की माँ है। रामफल और रहमान की रोज़ी और रोटी, आज़ादी और जनवाद की मिली-जुली लड़ाई को तबाह व बरबाद करने के लिए ही दोनों के दरमियान ये लोहे के पर्दे खड़े कर दिये गए हैं जिनके पीछे तुम इस वक़्त सख़्त हैरानी और बेचारगी की हालत में खड़ी हो। लेकिन मेरी बात का यक़ीन करो सईदा, भूखे इंक़लाब की आग में ये आहनी पर्दे भी पिघल जायेंगे। कौन है जो कह सकता है कि इस भूखे इंक़लाब की थरथरी आज वातावरण में नहीं है ?

उस दिन के तुम्हारे सवाल का जवाब मैं आज देता हूँ सईदा कि वही अवाम जो जल्लाद गोरी सल्तनत के मनहूस साये को नेस्तोनाबूद करेंगे इन पर्दों को भी तोड़कर गिरा देंगे और ये नक़ली दूरियाँ मिट जायेंगी। उस दिन यह मुल्क जिसका सिर और धड़ अभी-अभी हलाक किये गए बकरे की तरह तड़प रहा है, जुड़ जायेगा। देसी और बिदेसी थैलीशाहों की लाश पर

वह हमारी नयी ज़िंदगी होगी। उस दिन को पास लाने के लिए हम सब को कुछ न कुछ कुर्बानी देनी होगी। वही है हमारी नयी ज़िंदगी का ख़िराज।

सईदा, आओ, अमल के मैदान में आओ, हँस-खेलकर इस ख़िराज को चुकाओ, मुसकराओ और दुश्मन से गुंथ जाओ, यह पीछे मुड़-मुड़कर देखना जिन्दगी का उसूल नहीं है। वक़्त टकटकी बाँधे तुम्हें देख रहा है, दुनिया अपना साज़ बदलने के लिए बेचैन है।

'. . .असलियत के हथौड़े एक एक कर के तुम्हारे ये तमाम सपने शीशे की तरह चूर-चूर कर देंगे. . .उस वक्त तुम्हें हर चीज अँधेरी नजर आयेगी और मेरे बोल झांझों की तरह तुम्हारे कानों में बजेंगे. . .'

बाल बच्चेदार कबूतर

'बाल-बच्चेदार आदमी को कैसी मुशकिलों का सामना करना पड़ता है, इसे कोई बाल-बच्चेदार ही समझ सकता है : यह सबको एक लाठी से हाँकना ठीक नहीं...'

'हाँ अब रामनन्दनलाल को ही देखो न...'

'उसकी भी यार, तुमने भली चलायी। उसे अगर मयस्सर हो तो वह तो चौबीस घंटे जोरू के आँचल में दुबककर बैठा रहे...'

'नहीं भाई, ऐसी सख़्त बात मत कहो, जिस पर गुज़रती है वही जानता है। जिसके पैर न फटी बिवाई, वह क्या जाने पीर पराई...'

परसादी लाल ने बात काटते और मुँह चिढ़ाते हुए कहा—पीर पराई... बड़े आये पीरवाले ! ऐसी क्या पीर है उन्हें ज़रा सुनूँ तो...

'देखते नहीं बेचारा कैसा लद्दू घोड़ा बना रहता है—कभी आटा-दाल लादकर घर आ रहा है कभी बीबी को रिक्शे पर लादकर अस्पताल जा रहा है या और कुछ नहीं तो लीना मीना रीना टीना को लादे, घोड़ा बना, कमरे भर में दुलकियाँ भर रहा है !'

'यह तो तुमने ठीक कहा प्रताप, इन बाल-बच्चों ने उसकी मिट्टी पलीद कर रक्खी है, मगर आख़िर क्यों ?'

परसादी लाल ने, कमरे भरमें नाच नाचकर तिनग तिनगकर फूटने वाली चिटपिटिया के समान फूटते हुए कहा––'बाल-बच्चे ! एक उन्हीं के बाल-बच्चे हैं या दुनियाँ में और भी किसी के बाल-बच्चे हैं . . .यार, यह फ़िज़ूल की बकवास है, अब बन्द करो ।'

परसादी की इस बात से तो सब बड़े प्रभावित हुए, यानी यहाँ तक कि सब अपना ख़रीता खोलकर बैठ गये ।

हर प्रसाद ने कहा : 'हाँ, यह बात तो परसादी ने ठीक कही । बाल-बच्चे किसके नहीं है ? हम सभी तो बाल-बच्चेदार आदमी हैं । अरे मुझी को देखो, मेरे सात बच्चे है, दो लड़के और पाँच लड़कियाँ . . .रमेश, दिनेश, लीला, सुशीला, कमला, विमला और सातवीं टुन्नी ।'

परसादी बोले : 'अरे तो मैं ही तुमसे कब हेठा हूँ, मेरे तो दो कम दर्जन भर बच्चे हैं । मैं नाम गिनाने लग जाऊँगा तो आपको नींद आ जायगी . . .'

सुरेन्द्र प्रसाद नारायण सिंह ने कहा : 'अरे बन्द भी करो परसादी लाल. . . हमको तो दर्जन की हद लाँघे हुए भी पाँच बरस से ऊपर हो गया', कहकर उन्होंने प्रमाण के तौर पर छः बार खो खो करके खाँसा । अब यह बात साफ़ थी कि आज का मैदान सुरेन्द्रसिंह के ही हाथ रहा । सबने मन ही मन इस पैंतालीसवर्षीय वीर के आगे नति स्वीकार की ।

पर मैंने विमुग्धता के इस मायाजाल को तोड़ते हुए कहा––'यार तुम लोग भी बड़े मसख़रे हो । कहाँ हम लोग बात कर रहे थे मार्शल प्लान की . . .'

हर प्रसाद ने मेरी बात काटते हुए कहा––'हाँ, इसी पर तो किसी ने कहा न कि मार्शल प्लान से अगर हम लोगों को फ़ायदा न भी पहुँचे तब भी अपने बाल-बच्चों की भलाई का ख़याल करके . . .'

'हाँ मगर आप अपनी कारगुज़ारियों का दफ़्तर खोलकर क्यों बैठ गये ! वैसे क्या मैं जानता नहीं कि आप पर वह पूतोंफलो (दूधों नहाओ का तो ज़िक्र नहीं उठता, दूध अब रुपये का पाँच पाव भी मुश्किल से मिलता है !) वाला असीस सोलहो आने चौकस बैठता है और अगर परमात्मा ने चाहा तो जल्दी ही आपके आँगन के अमरूद और कटहल के पेड़ों पर बाल-बच्चे फलने लगेंगे !'

२

गेहुँए रंग के, छरहरे, यह मेरे दोस्त रामनन्दन लाल बड़े ही मासूम से आदमी हैं। वह अच्छे हैं या बुरे इसका निर्णय करना तो कठिन है, लेकिन यह तो बिलकुल पक्की बात है कि उन्होंने कभी किसी को नुकसान नहीं पहुँचाया, सदा बस अपने काम से काम रक्खा, ज़िन्दगी को एक सपाट, समतल, चौरस मैदान समझा, न एक तरफ़ के पहाड़ों को देखा न दूसरी तरफ़ के खड्डों को, निगाहों को अपने सामने फैली हुई सड़क पर गोंद से चिपकाये रक्खा, नौकरी की बँधी हुई तनख्वाह को हज़ार नेमत समझा, तीस साल की नौकरी का जुआ तेली के बैल की तरह एक बार गले में डाला तो बस फिर दुनिया का अस्तित्व मिट गया, रह गई दूर पर टिमटिमाती हुई बस एक ढिबरी जो कि पचपनसाले में आ जाने पर मिलने वाली सरकारी पेंशन है जिसे सब क़ारूँ का ख़ज़ाना समझते हैं लेकिन जो घर की इज़्ज़त ढाँकने के लिए भी बिलकुल नाकाफ़ी होती है। रामनंदन लाल ने सदा अपने को बहुत छोटा, हक़ीर समझा यहाँ तक कि एक रोज़ उन्होंने अपनी उपमा ज़मीन पर रेंगते हुए केंचुए से दी ! यह उनकी नम्रता थी, गो मैं उसकी दाद नहीं दे पाया। पर वह ख़ैर और बात है। रामनन्दनलाल एक हायर सेकेन्ड्री स्कूल में मास्टर हैं। यों उन्हें आप बहुत भीरु नहीं कह सकते, कभी किसी बात पर अगर उनको तैश भी आ जाय तो कोई अजब नहीं क्योंकि आखिर को वह इन्सान

हैं और इन्सान ही क्यों, कुत्ते की भी दुम मरोड़िये तो वह गुर्राता ही है और बिल्ली के बारे में तो यह कविप्रसिद्धि है ही कि कभी कमरा बन्द करके उस पर वार न करे वर्ना वह उचककर सीधे टेंटुआ दबाती है। इस बिल्ली वाली बात का मुझपर इतना गहरा असर पड़ा है कि मैं कभी चूहे को भी कमरा बन्द करके पकड़ने की कोशिश नहीं करता, कौन जाने !

हां तो मैं आपको राम नन्दनलाल के बारे में बतला रहा था कि कभी कभी उनको भी तैश आ सकता है, लेकिन यों उनकी ज़िंदगी का उसूल यही है कि दौलत की ड्योढ़ी पर सिर झुकाओ, रुतबे की पूजा करो क्यों कि रुतबा ही इंसान की पहचान है। अगर तुम्हारा अफ़सर गैंडा है तो अच्छत कुंकुम से उसी की आरती उतारो बलैयाँ लो क्यों कि उसमें ज़रूर कुछ होगा जिसने उसे वह रुतबा दिलवाया है और उस चीज़ की पूजा होनी ही चाहिए। आज से पचीस साल पहले, प्रसिद्ध नाटककार पंडित राधेश्याम कथावाचक ने इसी बात को पद्य की भाषा में यों कहा था--

खुशामद ही से आमद है
बड़ी इसलिए खुशामद है

मैं समझता हूं कि पंडित राधेश्याम कथावाचक ने यह लाख टके की बात कही है, आप ही सोच देखिए न, जिन्दगी की डगर को यह चीज़ कितना आसान बना देती है !

इसी उसूल के मातहत रामनंदनलाल रुतबे की पूजा करते हैं और अपने काम से काम रखते हैं और ज़िंदगी की राह पर पैर रखते चले जा रहे हैं, यों ख़ुद उनको पता नहीं है कि उनके पैर आगे पड़ रहे हैं या वह एक ही जगह पर खड़े पैर पटक रहे हैं ! मगर यह जानना कुछ बहुत ज़रूरी भी तो नहीं है जब तक कि स्कूल से घर और घर से स्कूल तक का रास्ता उन्हें अच्छी

तरह याद है। और यह ठीक भी है, अपने काम से काम, न ऊधो के लेने में न माधो के देने में। यही वजह है कि वह लोगों से मिलते-जुलते भी कम हैं, कहते हैं फ़ैमिलियरिटी ब्रीड्स कंटेम्प्ट*; लिहाज़ा इस तमाम दुनिया में उनका एक भी घनिष्ठ मित्र नहीं है।

हाँ, पैसे से उनकी मित्रता ज़रूर है। पैसे की टोह में भी वे काफ़ी रहते हैं, पैसा दाँत से पकड़ते तो खैर हैं ही। पैसा कहाँ से आ सकता है, इसकी भी अच्छी जानकारी उनको रहती है। पैसा कमाने के लटके उनको खासे आते हैं। इधर से उधर से कमा धमाकर वह अपनी और अपने बाल-बच्चों की गुज़र-बसर के लिए काफ़ी पैदा कर लेते हैं। और बस इतने ही से उन्हें बहस है और इतने ही से उनके जीवन की इतिश्री भी हो जाती है। यों वह कहते ठीक ही होंगे कि बाल-बच्चेदार आदमी दूसरा कुछ कर भी क्या सकता है!

मुझपर रामनंदन लाल की खास मेहरबानी है, इस मतलब में कि वह मेरे यहाँ आते-जाते हैं। अकसर शाम को चले आते हैं, घंटा आध घंटा बैठते हैं, ग़पशप करते हैं और वापस अपने दड़बे में पहुँच जाते हैं—यों मेरे यहाँ भी जो वह आते हैं इसकी एक वजह शायद यह भी है कि मेरी झोपड़ी उनके ऐन रास्ते में पड़ती है। मगर खैर वह कोई खास बात नहीं है, खास बात यह है कि रामनन्दनलाल का उठना-बैठना मेरे यहाँ होता है। और अकेले रामनन्दन ही क्यों परसादी लाल, हरप्रसाद, सुरेन्द्रप्रसाद नारायण सिंह, भागवत मिश्र, सभी का तो उठना-बैठना मेरे यहाँ होता है——

—या था, क्योंकि अभी जो बात मैं कर रहा था, वह गुलाम हिन्दुस्तान के बारे में थी, उस हिन्दुस्तान के बारे में जिस पर अंग्रेज़ राज करते थे।

* घनिष्ठता उपेक्षा को जन्म देती है।

फिर एक दिन ऐसा हुआ कि देश आज़ाद हो गया, तमाम हिन्दुस्तानियों की उम्मीदें बर आयीं, बीसों साल की जद्दो-जहद, पचासों साल की कशमकश का फल एक ही रोज़ में मिल गया और देश आज़ाद हो गया। पहले हम ग़ुलाम थे, अब हम स्वतन्त्र हैं—कम-से-कम सिनेमावाला रोज़ हमें तसवीर ख़त्म होने पर इसकी याद दिला देता है और ठीक ही करता है क्योंकि सबक़ अगर ठीक से दोहराया न जाय तो भूल जाता है !

जैसा कि हर देश के इतिहास में हुआ है, आज़ाद होते ही हिन्दुस्तान का नक़्शा भी एकदम बदल गया।

नेता लोग जो अब तक हर बात पर इंजन की तरह गर्म-गर्म धुँआ उगला करते थे, अब चारों ओर फैली हुई आज़ादी को देख-देखकर लहालोट होने लगे; पहले जहाँ उन्हें हर चीज़ पर ग़ुलामी की मुहर नज़र आती थी,अब आज़ादी की मुहर नज़र आने लगी यहाँ तक कि पहले अगर लोगों का भूखों मरना बग़ावत की लाल झंडी थी तो अब भूखों मरना उनका राष्ट्रीय कर्तव्य हो गया क्योंकि उनका आज़ाद राष्ट्र अभी केवल दो साल का बच्चा है; पहले लाल चमड़ी के अंग्रेज़ जो कुछ करते थे, उल्टे-पुल्टे ढंग से और हिन्दुस्तान को ज़लील करने के ख़याल से, अब काली-पीली-भूरी चमड़ी के हिन्दुस्तानी जो कुछ करते बेहतरीन ढंग से और हिन्दुस्तान का नाम रौशन करने के ख़याल से।

अख़बार जो अब तक अंग्रेज़ों की ग़ुलामी की बेड़ियों को काटने में एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाया करते थे, अब उसका गुणगान करने में एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाने लगे, जो अब तक सच की पतवार से नैया खेने की बात किया करते थे, अब झूठ के मोटे मोटे डाँड़ लेकर भवसागर में कूद पड़े।

क़ानून बनानेवाले जो अब तक अंग्रेज़ी शासन विधान को रमतुलवा धुनिया

की तरह धुनककर उड़ा दिया करते थे अब भारतीय शासन विधान बनाने की खातिर छः गजी मोटरों पर बैठ कर (हिन्दुस्तानी औरतों को छः गजी धोती मयस्सर नहीं यह और बात है !) पेट्रोल की जगह जनता का लहू फूंकने लगे।

ब्लैकमार्केट करने वाले जो अब तक बच्चे थे, अब पूरे जवान हो गये; जो अब तक अंधेरी गलियों में अपना कारबार किया करते थे अब राजपथ पर निकल आये और दिन दहाड़े लूटपाट करने लगे, जिन्हें अब तक दो-एक हवेलियाँ खड़ी करने की ही हविस थी उन्हें अब सोने के पहाड़ निगल जाने की भूख सताने लगी।

और तो और मेरे दोस्त, ये रामनन्दन लाल और हर प्रसाद और भागवत मिश्र जो अब तक लगभग हर शाम को ही टपक पड़ा करते थे और मैना के समान मीठे मीठे बोल बोलते थे, अब यों ज़बान खो बैठे जैसे बिल्ली को देखकर कबूतर...इंसान का चोला और कबूतर का दिल रखनेवाले ये तमाम बाल-बच्चेदार कबूतर पंख फुला फुलाकर दूर सरक गये और अपनी कबूतरियों के संग जा बैठे और अपनी गुटुर गूँ में कुछ कहने लगे जिसे बाल-बच्चेदार ही समझ सकते हैं !

ग़रज़ यह कि हिन्दुस्तान आज़ाद होने के साथ साथ हर चीज़ कुछ की कुछ हो गयी। अब मैं शाम को अकेला बैठा रहता हूँ, कोई ख़ुदा का बन्दा मेरे पास नहीं आता—एकाध खास मौक़े की, दावत या चाय की बात छोड़ दीजिये। वर्ना बस यही समझिए कि कोई पंछी पर नहीं मारता जहाँ पहले कोई शाम ऐसी न जाती थी कि इंसान छिन भर को अकेले में बैठ ले। अब तो यह कैफ़ियत है कि राह में भी अगर कहीं रामनन्दनलाल या भागवत मिश्र या परसादीलाल से आँखें मिल जाती है तो वह आँख बचा जाते हैं, बाज़ार में मैं अगर कहीं उनका दामन पकड़ लूँ तो समझिए बेचारों का दम

ही निकल जाय——कबूतरों की जान ही कितनी !——मिलने के साथ ही बग़लें झाँकने लगते हैं, चेहरे का रंग कुछ उड़ जाता है, दूसरी पटरी पर अचानक कोई दूसरा दोस्त नजर आ जाता है या और कुछ नहीं तो ऐसा कुछ खिसियाया हुआ सा चेहरा निकल आता है कि उसे देखकर पत्थर भी पानी हो जाय...

...और मैं तो कोई पत्थर नहीं ।

आप कहीं मेरे बयान से यह न समझ लें कि मैं कोई बड़ा ख़तरनाक इंक़लाबी यानी कम्युनिस्ट हूँ, (जिनसे कि सभी शरीफ़ आदमियों को डरना ही चाहिए!) इस ख़याल से यह कहना ज़रूरी है कि मैं एक अदना से मगर आज़ाद ख़याल पत्र का एक अदना सा मगर आज़ाद ख़याल संपादक हूँ । इससे ज्यादा मैं कुछ नहीं । हाँ, लल्लो-चप्पो मुझे नहीं आती, इसलिए वह लोग जिन्हें लल्लो-चप्पो पसंद है, मुझसे थोड़ा कतराते हैं, बस इतनी सी बात है । जेल की ज़िंदगी को आज के रोज़ नोट की तरह भुनाने वाले नेताओं के समान ऐसी कोई चाह मेरे मन में नहीं है कि आज़ादी मेरे घर को सोने से भर दे, इसलिए मैं किसी की लगाम भी अपने ऊपर क़बूल नहीं करता । 'आग' के संपादक की हैसियत से बड़े लोगों के विलासकक्षों में आग लगाना मेरा पेशा हो गया है । ज़ाहिर है कि जिन लोगों के यहाँ यह आग लगती है, वह मुझसे बहुत मुहब्बत नहीं करते, यहाँ तक कि अगर मैं कुछ लोगों की आँख का काँटा भी हो गया हूँ, तो यह बात भी आसानी से समझी जा सकती है ।

मगर यह बात समझ में नहीं आती कि रामनन्दन लाल और भागवत मिश्र जैसे दोस्त क्यों कन्नी काटने लगे हैं ।

लिहाज़ा एक रोज़ मैंने भागवत को पकड़ा——'क्यों मियाँ इतना बाला-बाला क्यों रहने लग गये हो ? एकदम दूज के चाँद हो गये हो ।'

भागवत ने बगलें झांकते हुए कहा—अरे यार, क्या बतायें आजकल ऐसा काम सर पर आ गया है कि दम मारने की फ़ुरसत नहीं मिलती...

मुझे उसकी बात सुनकर न जाने कैसी उबकाई सी आने लगी, और बात करने का जी भी नहीं हुआ। मगर दिल की डायरी में मैंने नोट कर लिया कि यह आदमी सिर्फ़ डरपोक ही नहीं परले दर्जे का भगा भी है।

रामनंदनलाल कम से कम भूला नहीं है। बोला—'भाई, हम लोग बाल-बच्चेदार आदमी हैं; यह सब धंधा हमारे काम का नहीं। तुम्हारे घर पर खुफ़िया की बड़ी कड़ी निगाह रहती है।'

मैंने कहा—'तब ?'

'तब भी पूछते हो तब ? अब तो तुम्हारे साथ देखा जाना भी एक गुनाह बन गया है यार...'

इसका मतलब तो यह हुआ कि अब तुम दोस्तों को भी छोड़ दोगे ?'

तुम्हीं बताओ क्या करें; साले कहीं अगर मुझको भी उठाकर रख आये—अरे उनका कौन ठिकाना—तो घरवाले भूखों मर जायेंगे, कोई चुल्लूभर पानी का पूछने वाला भी नहीं मिलेगा...'

'सो तो तुम ठीक कहते हो; मगर नंदन, तुम भूल जाते हो कि एक हद ऐसी भी आ जाती है जब इंसानियत का यह तक़ाज़ा होता है...'

'देखो यह सब लंबी-चौड़ी बातें मुझे मत सुनाओ। इंसानियत का तक़ाज़ा सुनने की ताक़त मेरे कानों में नहीं है—बीवी-बच्चों का तक़ाज़ा सुनते-सुनते ही मेरे कान पक गये हैं। इंसानियत का तक़ाज़ा सुने वह जो इंसान हो। मैं इंसान नहीं हूं। मैं बैल हूं। मैं गणित का अध्यापक हूं, मेरे छः बच्चे हैं।'

३

...मगर तुम भूल करते हो मेरे दोस्त। सवाल छः बच्चों का नहीं एक विवेक का है, एक कर्तव्य चेतना का, एक इंसानियत का। तुम मेरी बात नहीं मानते तो न मानो लेकिन मैं जानता हूँ कि एक दिन तुमको भी यह बात माननी पड़ेगी। किस दिन, यह अभी से नहीं कहा जा सकता, किसी की जिन्दगी में वह दिन जल्दी आता है किसी की जिन्दगी में देर से मगर आता हर आदमी की जिन्दगी में है, जब तक कि वह आदमी सत्ता के हाथ बिका हुआ नहीं है।

तुम्हारी जिंदगी में जब वह दिन या वह घड़ी आये तब तुम मेरी बात को याद करना कि किसी सिरफिरे ने (शेक्सपियर के 'लियर' का 'फ़ूल' ही क्यों न कहो मुझे, मेरी इज्जत ही कुछ बढ़े!) कहा था कि एक हद ऐसी आती है और ज़रूर आती है जब इंसान की इंसानियत का इम्तहान होता है, जब खरे और खोटे की परख होती है, जब इंसान को हक़ के लिए और सच्चाई और इंसाफ़ के लिए तलवार हाथ में लेनी पड़ती है। तलवार हाथ में लेने से पहले पहल सबको डर लगता है क्योंकि तलवार न तो फूल है न तितली, तलवार के एक सधे हुए वार से सर ज़मीन पर लोटने लगता है, हाथ केले को शाख़ की तरह काँधे से कटकर अलग जा पड़ता है, तलवार कोई सुबुक नाज़ुक चीज़ नहीं है...

...मैं जानता हूँ कि आज तुम तलवार हाथ में नहीं पकड़ोगे, मैं पकड़ा भी दूंगा तो तुम गिरा दोगे क्योंकि अभी तुम्हारा हौसला कच्चा है, क्योंकि अभी तुम्हारे और तुम्हारे दुश्मन के दरमियान तुम्हारे बीबी-बच्चे खड़े हैं, क्योंकि तुम्हारी आँखों में अभी यह सपना झूल रहा है कि तुम्हारे बच्चे बड़े होंगे और ऊंची से ऊंची तालीम पायेंगे, बैरिस्टर बनेंगे, डाक्टर बनेंगे, प्रोफ़ेसर बनेंगे, इंजीनियर बनेंगे, कलक्टर बनेंगे, अच्छे, हवादार कुशादा बँगलों में

रहेंगे, उनकी शानदार मोटरें होंगी, समाज के ऊँचे लोगों में उनकी गिनती होगी, सब कहेंगे कि अमुक के लड़के बड़े लायक़ निकले, सबों ने खानदान का नाम रौशन किया, परमात्मा बेटे दे तो अमुक जैसे, क्या नहीं कर दिखाया सबों ने . . . तुम्हारी आँखों में अभी यह सपना झूल रहा है कि तुम्हारी साफ़ सुथरी, सजी सँवरी, तालीमयाफ़्ता लड़कियाँ होंगी और उनके लिए वैसे ही ख़ूबसूरत, तन्दुरुस्त, तालीमयाफ़्ता, पैसेवाले दूल्हे मिलेंगे जिन्हें तुम अपनी लड़कियाँ देकर सुख-चैन की निंदिया सो सकोगे . . . तुम्हारी आँखों में अभी यह सपना झूल रहा है कि तुम्हारे आख़री दिन सुख से शान्ति से कटेंगे, यही सपने हैं जो तुम्हारे हौसले को कच्चा बनाते हैं —

. . . मगर यह न समझना कि ये सपने भी अन्त तक तुम्हारा साथ देंगे। जब तक झूल सको इन सपनों के झूलों पर झूल लो, बुरा शग़ल नहीं है, तबियत बहल जाती है। लेकिन मेरी बात को गिरह बाँध लो कि असलियत के हथौड़े एक एक करके तुम्हारे ये तमाम सपने शीशे की तरह चूर चूर कर देंगे और फिर एक दिन तुम पाओगे कि तुम्हारे पास कुछ भी नहीं रह गया है, तुम्हारी आख़िरी पूँजी भी तुम्हें छोड़ गयी है, उस वक्त तुम्हें हर चीज़ अंधेरी नज़र आयेगी और मेरे बोल झाँझों की तरह तुम्हारे कानों में बजेंगे . . .

. . . अच्छी तालीम ?

हुँः, बुरी तालीम के लिए भी तुम्हारे पास पैसे न होंगे। रोज़ की नून तेल लकड़ी में ही तुम्हारी जिन्दगी घुटकर मर जायेगी। तो क्या अजब कि फ़ीस के पैसे जुटाने में तुम्हारी चाँद गंजी हो जाये ? तुम बहुत करोगे तो रो पीटकर उन्हें मैट्रिक या इंटरमीजियेट तक पढ़ाओगे, फिर उनमें से एक सिनेमा का गेटकीपर बनेगा और सुरैया या उसकी बहन गौरैया के गानों पर सिर धुनेगा और बीड़ी पियेगा; एक सड़क के किनारे कंघे और चुटीले

और वैसलीन बेचेगा; एक किसी मनहूस दुकड़ही बीमा कंपनी का एजेंट बनेगा...

...तुम्हारी लड़कियाँ जाहिल रही आयेंगी क्योंकि उन्हें पढ़ाने का सवाल ही नहीं पैदा होगा और फिर उन्हें शादी की उम्र आने पर उन्हीं की तरह जाहिल, मूर्ख और अशिक्षित, मोटे रेशे के आदमियों के संग बाँध दिया जायेगा और फिर वे हर साल मिरगुल्ले, केकड़े जैसे बच्चे पैदा करती और खुद सूखती चली जायेंगी यहाँ तक कि उनकी आँखों के नीचे गहरे काले गड्ढे होंगे, उनका चेहरा पीला और हाथ की नीली नीली नसें उभरी हुई होंगी, उनमें से किसी को तपेदिक होगा किसी को एनीमिया...

...तुम्हारी आँखों के आगे ये ज़िंदगियाँ बरबाद होंगी और धूल में लिथड़ेंगी और तुम मजबूर होगे—

और सिर्फ़ धूल में नहीं, ख़ून में भी लिथड़ेंगी।

एक रोज़ सुबह तुम उठोगे और देखोगे कि दिवाकर, तुम्हारा बड़ा लड़का, बैसाखी का सहारा लिये लँगड़ाता चला आ रहा है,उसके पैर काट दिये गये हैं, सिंगापुर के मोर्चे पर उनमें गोली लग गयी थी...

तब तुम्हें फ़िक्र होगी कि प्रभाकर जो अपने बड़े भाई ही की तरह एक रोज़ बिना किसी को कुछ बताये घर से चला गया था, कहाँपर है।...और तब तुम्हारी उत्सुकता शान्त करेगा डाक का वह हरकारा जो बड़ी सादगी से आकर तुम्हारे हाथ मे फ़ौजी मुहर का एक लिफ़ाफ़ा पकड़ा देगा जिसे खोलने पर खुल जा सुमसुम की तरह तमाम राज़ खुल जायेंगे और तुम्हारी आँखों में खुशी के और गर्व के आँसू छलछला आवेंगे जब तुम्हें क़ुस्तुनतुनिया के फ़ौजी हेडक्वार्टर से यह रुक्क़ा मिलेगा कि तुम्हारे लड़के ने —मार्के पर

ज़बर्दस्त बहादुरी का सबूत दिया और अपनी चौकी की रक्षा में जाति और राष्ट्र, न्याय और सभ्यता की ख़ातिर जान दी !

. . .और तुम होगे तुम, जो अपने स्कूल के सबसे हृष्ट-पुष्ट, तगड़े जवानों को गिनती और लेबल कर करके इसी मौत के मुंह में झोंकोगे. . . हिन्दुस्तानी जवान अमरीकी सेनापतियों की रहनुमाई में 'बोलशेविक बर्बरता' से 'सभ्यता' की रक्षा करेंगे और हिन्दुस्तान की ज़मीन को अपने ख़ून से सींचेंगे ताकि 'अमरीकी जनतन्त्र' का पौदा उस पर लहलहाये !

और इसी सिलसिले में जैसे सपने से जागकर एक दिन तुम देखोगे कि तुम्हारी लाड़ली पद्मा अमरीकी फ़ौजी क्वार्टरों की तरफ़ से लँगड़ाती चली आ रही है, उसकी धोती ख़ून से तर है, तुम्हारी पद्मा जो आकर तुम्हारे पैरों के पास ढेर हो जायगी—

उस दिन तुम्हारे सपनों की रेशमडोर कट जायगी और तुम धच्च से धरती पर आ रहोगे—मुमकिन है तुम्हारी एकाध हड्डी टूट भी जाय, लेकिन वह भी कुछ बुरा नहीं होगा क्योंकि तब तुम्हारे सपनों की रेशमडोर कट गयी रहेगी और तुम्हारे पैर ज़मीन पर होंगे। उस दिन तुम शायद अपने मन की पूरी शक्ति से यह इच्छा करोगे कि फैली हुई घास की एक एक दूब ज़मीन में गड़ी हुई एक-एक बर्छी बन जाय जिसे तुम हल्के से ज़रा देकर ज़मीन से उखाड़ कर उन लोगों पर फेंक सको जो तुम्हारे बच्चों और उनके भविष्य के बीच दैत्यों की तरह खड़े हैं, जो तुम्हारे लाड़लों को मौत की घाटी में घसीटकर लिये जा रहे हैं, जो तुम्हारी आँखों की नींद चुरा ले गये हैं, जिनके कारण फिक्रों की वजह से तुम आँखों आँखों में ही सबेरा कर देते हो...

यह नहीं कि तब तुम्हारे बाल-बच्चे नहीं रहेंगे, यह भी नहीं कि तब तुम्हें जेल या मौत का डर न रहेगा। नहीं, तब भी तुम्हें जेल के सीख़चों से शुरू में थोड़ा डर लगेगा, तब भी तुम्हें यह चिन्ता सतायेगी कि तुम्हारी बीबी क्या पहनेगी, तुम्हारे बच्चे क्या खायेंगे . . .

. . .लेकिन तब तुम्हें बर्छी सौंतकर दुश्मन पर फेंकना आ गया रहेगा और तुम कायर आदमी की तरह मैदान से पीठ फेरकर बाल-बच्चों को मुलुर-मुलुर ताकोगे नहीं बल्कि अच्छी तरह से ज़मीन में पैर गाड़कर दुश्मन पर वार करोगे क्योंकि तुम्हारे दिल में नफ़रत का भाव उबाल खा रहा होगा, क्योंकि दुश्मन ज़िन्दगी की तमाम राहें रोके खड़ा है, क्योंकि इंसानियत की लाश से डालर बटोरनेवाले मुट्ठी भर मौत के सौदागर सारी सृष्टि पर पिघले हुए सीसे की एक नदी बहा देना चाहते हैं . . .

. . .और क्योंकि तुम मरना नहीं चाहते, क्योंकि तुमको ज़िंदा रहना है और आगे बढ़ना है और तुम्हारे हाथों में इतनी ताक़त है कि तुम दुश्मन के काले सीने में अपना बर्छा भोंक कर नयी ज़िन्दगी, हँसती-मुसकराती हुई ज़िन्दगी का झंडा गाड़ दो ।

'...असल मुजरिम है वह हुकूमत जो भूखे को खाना और नंगे को कपड़ा नहीं देती...'

अभियोग

फ़रवरी के दिन थे। सर्दी के काफ़ी दाँत टूट चुके थे। हवा में अब सिर्फ़ एक हलकी-सी खुनकी बाक़ी था। शाम का वक़्त था। अँधेरा घना हो गया था। सड़कों का चलना बन्द हो गया था। इलाहाबाद की एक सूनी सड़क पर एक रिक्शा धीरे-धीरे चला जा रहा था। रिक्शेवाला कुछ तो सर्दी के एहसास को कम करने के लिए (क्योंकि वह सिर्फ़ एक फटी हुई क़मीज़ पहने था) और कुछ अपनी थकान मिटाने के लिए किसी गाँव की गोरी का कोई एक गाना गा रहा था।

रिक्शेवाले की आवाज़ बुलन्द लेकिन मीठी थी। उस आवाज़ में एक अजीब-सा दर्द था—या कम-से-कम उपेन्द्र को ऐसा लगा। उपेन्द्र अपने शाल को सिर से लपेटे रिक्शे में बैठा हुआ था। उसे रिक्शेवाले का गाना बड़ा भला मालूम हुआ। रिक्शेवाला साँवले बल्कि काले रंग का दुबला-पतला आदमी था। उसकी उम्र का अन्दाज़ा करना मुश्किल था क्योंकि देखने से तो वह बिलकुल बुड्ढा मालूम होता था—गाल पिचके हुए, आँखें धँसी हुई, साँस बेतरह फूलती हुई—मगर दिल उसके बुड्ढेपन की गवाही नहीं देता था। उसकी उम्र तीस से ज़्यादा किसी तरह न थी। मगर जैसे लू और घाम का मारा हुआ आम बिलकुल चिचुक जाता है वैसे ही रिक्शेवाला चिचुक गया था। 'आज़ादी' के बाद भी इस देश में शायद ऐसे ही लोग भरे हुए हैं, इसलिए इसमें न तो कोई अनोखापन था और न हैरान होने ही की कोई बात। लेकिन न जाने क्यों उपेन्द्र को भीतर ही भीतर बहुत तकलीफ़

हो रही थी। इस तकलीफ़ में पता नहीं क्या क्या चीजें मिली हुई थीं।

रिक्शेवाला तो अपनी थकान मिटाने के लिए अपने गाँव की किसी गोरी का ध्यान कर रहा था--गोरी तोरे नैन कजर बिन कारे !--(जो कि अगर उसकी स्त्री नहीं है तो अब तक कभी की ब्याह कर अपने दुलहे के पास चली गई होगी और अब तक तीन-चार बच्चों की माँ भी होगी, उसके गोरेपन में चूल्हे की कालिख मिल गयी होगी, जवानी कब की रुख़सत हो चुकी होगी, भौंरों ने भी किसी दूसरे फूल पर दाँत गड़ाये होंगे, और गोरी कंडे थापती और आस-पास चक्कर लगाते हुए अपने कैंची-पोटों को झिड़कती और धौल जमाती बैठी होगी !) मगर उसे क्या ख़बर कि उसके रिक्शे में जो बाबूजी बैठे हैं उन्होंने भी अपनी गोरी और अपने नन्हें को छः महीने से नहीं देखा है। रिक्शेवाले के गाने ने थोड़ी देर के लिए उसकी प्यास तेज़ कर दी। मुमकिन है जो दर्द उसे अपने सीने में महसूस हो रहा था, उसमें कुछ अंश इस प्यास का भी हो। मगर ज्यादा तकलीफ़ उसे रिक्शेवाले की ख़ातिर हो रही थी: कैसा लाश ढोने जैसा काम है ! और सवारियाँ भी कैसी कैसी बैठती हैं, पूरे पाँच मन की, एक माशा कम नहीं।

उसने बात छेड़ी : 'रिक्शा चलाना तुम्हें कैसे लगता है ?'

रिक्शेवाले ने कहा : 'बाबूजी, इस पेट के लिए सब करना पड़ता है, नहीं तो आपसे सच कहता हूँ, आँख निकल आती है।'

उपेन्द्र ने कहा : 'इसीलिए तो मैंने पूछा। दूसरा कोईधन्धा क्यों नहीं देखते ?'

रिक्शेवाले ने बाबूजी की लन्तरानी बातचीत से थोड़ा चिढ़कर कहा : 'हो भी कोई दूसरा धन्धा ! कोई साला दे भी तो कोई काम !'. . .फिर जरा नरम पड़ते हुए कहा : 'अरे बाबूजी, काम काम तो सब बराबर,सबमें ही तो

एड़ी का पसीना चोटी तक पहुँचाना पड़ता है, तब कहीं चार पैसे से भेंट होती है। रोटी कमाना कोई हँसी-खेल नहीं है बाबूजी, डेढ़ सेर का तो गेहूँ लगा है...' कहते कहते उसके दायें गाल की हड्डी हलके से खिंची।

उपेन्द्र ने रिक्शेवाले की इस बात का कोई जवाब नहीं दिया। लेकिन शायद अनजान में ही उसके मुँह से निकल गया : 'क्या यही आजादी है कि आदमी घोड़े का काम करके मरने पर मजबूर है? इसी का इतना ढिंढोरा पीटा जाता है? देश आज़ाद हुआ, गिद्धों से छुटकारा मिला तो इस लाश में नयी जान क्यों नहीं आयी? नयी राहें क्यों नहीं खुलीं? नये काम क्यों नहीं पैदा हुए? सब ढोल की पोल है।'

रिक्शेवाले ने चौंककर पीछे देखा, उसने समझा उससे कुछ कहा जा रहा है। बादवाला टुकड़ा शायद उपेन्द्र ने ज़ोर से कह दिया था।

इस विचार प्रवाह से जैसे अपने आपको झटका देकर अलग करते हुए उपेन्द्र ने कहा : 'तुम्हारा घर कहाँ है?'

रिक्शेवाले ने जवाब दिया : 'बाबूजी, मेरा घर जौनपुर जिले में है, तहसील केराकत।'

उपेन्द्र ने पूछा : 'घर में कितनी खेती होती है?'

रिक्शेवाले ने जवाब दिया: 'कोई जमाना था बाबूजी, कि हमारे यहाँ चार बैल की खेती होती थी, मगर अब तो सिर्फ दो बीघा बचा है और वही दो बीघा अधिया पर मिल जाता है। बाबूजी, आपसे छिपाना क्या है, अधिया में बरक्कत होती है वहाँ जहाँ मालिक शहर में रहता है, ऐसे तो कुछ भी नहीं। और फिर बाबूजी, भगवान की दया से हमारा घराना बड़ा है, चार बच्चे और एक घरवाली तो मेरी है, मेरे छोटे भाई की औरत है,

उसके दो बच्चे हैं, हमारी माँ है, एक बहन है जिसका अभी ब्याह करना है। आप ही सोचिए, दो बीघे में भला कैसे बसर हो। ओला-पाला भी तो बाबूजी, अब बहुत बेतरह पड़ने लगा है। इधर दो बरस से दयू को ही देखिये न, कैसे कुसमय बरसने लगे हैं, किसी चीज का जैसे कुछ ठिकाना ही नहीं, फसल एक दम मारी जा रही है...और फिर पिछली बरसात हमारे एक बैल को साप ने काट खाया।'

उपेन्द्र बोला: 'ग़रीबी में आटा गीला और किसे कहते हैं!'

रिक्शेवाला उपेन्द्र की सहानुभूति से द्रवित होते हुए बोला: 'सच कहा आपने बाबूजी! जब से हमारा बैल मरा हम बिल्कुल दूसरों का मुँह जोहा करते हैं—सबके बाद हमारे खेत में हल पड़ता है और सबके बाद ही पानी.. बड़ी साँसत में जान है गरीब परवर, मगर दूसरी गोई कहाँ से आये...'

वह फिर जैसे अपने दिमाग़ को उस तकलीफ़देह विषय से अलग करने के लिए किसी गाने की एक कड़ी गुनगुनाने लगा और गुनगुनाते-गुनगुनाते आवेश में आकर जोर जोर से, ललकार-ललकार, गाने लगा।

अचानक किसी की कड़कदार आवाज सुनायी दी: 'अबे, रोक दे रिक्शा।

रिक्शा रुक गया। जब तक स्थिति उपेन्द्र की समझ में आये आये तब तक चार आदमियों ने, जिन्होंने ही रिक्शे के आगे आकर रिक्शा रुकवा दिया था, आगे बढ़ कर उपेन्द्र को पकड़ लिया।

उपेन्द्र ने बनावटी अचंभे के साथ पूछा: 'क्यों साहब मैंने क्या बिगाड़ा है? आप मुझे क्यों पकड़ रहे हैं? मुझ से आपको क्या ग़रज है?'

उन सादी पोशाक वालों में से एक ने कहा: 'उपेन्द्र बाबू, हमें आप ही से ग़रज है। हमने आपका हुलिया अच्छी तरह मिला लिया है।'

और एक अजीब भयानक सी मुसकराहट में उसके मुहँ के दोनों सिरे खिचे ।

उपेन्द्र भी उस आदमी को पहचान गया । वह उसके शहर का ही एक सी० आई० डी० था जो शायद महीनों से उसकी खोज में था । उसने कहा भी—'बड़ा परेशान किया आपने उपेन्द्र बाबू. . .'

उपेन्द्र ने बचने की कोई उम्मीद न देखते हुए भी एक बार डपटकर कहा—'आप लोग भांग खा गये हैं क्या ? मेरा नाम उपेन्द्र नहीं है । आप नाहक मेरे पीछे पड़े हैं । मेरा नाम तो लाल जी है । आपको यक़ीन न होता हो तो मेरे घर चले चलिए, वहीं आपको अपनी ग़लती पता चल जायगी' और रिक्शेवाले को रिक्शा आगे बढ़ाने के लिए कहा । मगर रिक्शेवाले ने उस तरफ़ जो ज़रा-सी जुंबिश की तो उन चारों यमदूतों ने एक साथ उसे ऐसा कस कर घुड़का कि वह एकदम सिटपिटा गया । फिर उनमें से एक ने, जिसे उपेन्द्र नहीं पहचानता था, अजहद खुश्की से कहा: 'देखिए फ़िज़ूल बखेड़ा मत कीजिए, रिक्शा यहाँ से एक क़दम आगे नहीं जा सकता । आपको हमारे साथ कोतवाली चलना पड़ेगा ।'

इसके बाद उस आदमी ने रिक्शेवाले को रिक्शा मोड़ने के लिए कहा । उपेन्द्र ने अपने मन में कहा—यह आदमी बड़ा चुस्त-दुरुस्त है, इससे पिचर पिचर नहीं चलने की. . .मगर आज तोता बुरा फँसा उस्ताद । और हल्के से मुसकराया ।

रिक्शेवाला पैदल पैदल, रिक्शे को खींचता हुआ धीरे धीरे चलने लगा और 'तोते' के दोनों ओर दो-दो आदमी बड़ी मुस्तैदी से चलने लगे । एक ने, जो शायद उन लोगों का हेड था, पिस्तौल निकालकर हाथ में ले ली ।

२

उपेन्द्र को कोतवाली के अंदर दाख़िल होते ही न जाने क्यों ऐसा लगा कि जैसे वह चोर-डाकुओं की कोई मढ़ी या सराय हो—खूब बड़ी सी वह इमारत, उसमें खूब बड़ा सा वह होता। उसमें कोई पुलिस वाला कहीं किसी बेंच पर बैठा किसी से गप्प हाँक रहा है, कोई खड़ा खिलखिल खिलखिल कर रहा है, कोई टट्टी से आकर हाथ माँज रहा है। दफ़्तर में बीसियों आदमियों के मुँह से एक साथ निकली हुई आवाज़ें ऐसी अजीब तरह से ख़ल्त-मल्त होकर हवा में गूँज रही थीं जैसे हज़ारों मक्खों को शीशे के एक बड़े से बकस में बंद कर दिया गया हो। उपेन्द्र को साँस लेने में भी तकलीफ़ हुई गोया उस कमरे में हवा नहीं सिर्फ़ मक्खों की गूँज भरी हो। रास्ते के लिए ज़रा सा गलियारा छोड़कर क़रीब क़रीब पूरे कमरे में ही कई तख़्त आपस में जुड़े हुए बिछे थे जिन पर छोटी-छोटी चौकियाँ रक्खी हुई थीं। चौकियों पर दो एक बादामी काग़ज़, एक दावात जिसकी पेंदी में थोड़ी सी पनीली स्याही और एक दो क़लम रक्खे हुए थे जिनकी निब में अब कोई जान बाक़ी नहीं थी। तमाम तख़्तों पर बेशुमार बादामी काग़ज़ फ़्लाई पेपर की तरह फैले हुए थे जिनसे वो ख़ुश्क ख़बीस चेहरों के मनहूस मक्खे चिपक कर रह गये थे। वहाँ पहुँचकर ऐसा मालूम होता था जैसे मक्खियों ने सारी दुनिया फ़तेह कर ली है और उस पर अपना बादामी काग़ज़ का झंडा फहरा दिया है और वक़्त की चाल रुक गयी है। टेलीफ़ोन का रिसीवर भी उठाकर मेज़ पर रख दिया गया था जिसमें उसकी घंटी की नागवार घनघनाहट भी वहाँ की फ़िज़ा में कोई हलचल न पैदा कर सके। एक साहब 'साइकिल तस्करगण' की तालिका अपने सामने खोले बैठे थे। उन्हीं की तरह दूसरे भी अपने सामने कोई न कोई बादामी फ़ाइल खोले बैठे थे, लेकिन फ़ाइलें बस खुली हुई थीं, बीड़ियाँ पी जा रही थीं और ग़पशप का नातमाम सिलसिला जारी था।

क़ायदे के अनुसार उपेन्द्र की घड़ी, फ़ाउन्टेनपेन और जेब के रुपये-पैसे वहीं जमा करवा के उसे हवालात में बन्द कर दिया गया। उसे अन्दर करके लोहे के फाटक का ताला भरते हुए एक कानिस्टिबिल ने कहा—वो कंबल पड़े हैं।

उपेन्द्र ने देखा, एक कोने में दो निहायत चीथड़े से, चौकट,चारख़ाने के कम्बल पड़े हुए थे, जिन्हें पता नहीं, कितने सौ लोगों ने ओढ़ा होगा। उपेन्द्र ने एक कंबल वहीं जमीन पर बिछाया और दूसरा ओढ़कर हाथ का तकिया लगाकर सोने की कोशिश करने लगा। इस नयी दुनियाकी यह उसकी पहली रात थी। इन कंबलों से उसे सख़्त घिन आ रही थी, लेकिन तब भी उसे न जाने क्यों थोड़ा चैन महसूस हुआ, शायद इसलिए कि उस कोठरी में वह अकेला था और बादामी रंग की उस मक्खों की दुनिया से दूर था।

रात बारह बजे के क़रीब उसकी आँख एक बार खुली,जब एक कानिस्टिबिल ने किसी शराबी को लाकर उस 'पुरुष बंदी गृह' में दाख़िल किया। मगर इसके पहले कि उपेन्द्र उससे उसका नाम-गाम पूछता, एक मिनट बाद ही फाटक फिर खुला और उस बन्दी को बाहर ले जाया गया। देश की शान्ति और सुरक्षा के पहरेदारों को शायद इस बात का डर लगा कि उपेन्द्र कहीं रात भर में ही उस आदमी के कान में इंक़लाब का मन्त्र न फूँक दे! बहरहाल, उसके बाद फिर ख़ामोशी छा गई और उपेन्द्र ने मच्छरों से उलझते हुए इत्मीनान के साथ रात काट दी।

सबेरे जब वह उठा तो उसने दीवार पर जगह-जगह, कहीं छोटे और कहीं बहुत बड़े हँसिये और हथौड़े के निशान देखे। उन्हें देखकर उपेन्द्र को उस हवालाती कोठरी से बड़ा अपनापा-सा महसूस हुआ, जैसे उन निशानों की डोर पकड़कर वह अपने उन तमाम साथियों से जा मिला जो उसके पहले यहाँ आ चुके थे और जिनके साथ मिलकर ही वह भी उस फ़ौज का एक

सिपाही है जिसने इस मनहूस पुलिस राज की इमारत की ईट से ईट बजा देने का क़ौल किया है।

दस बजे के क़रीब उपेन्द्र को एक दर्जन हथियारबंद कान्स्टिबिलों के पहरे में सैन्ट्रल जेल ले जाया गया। घरघराती हुई पुलिस वैन में से उपेन्द्र ने आज़ादी से घूमते-फिरते लोगों को देखा और उसका जी मसोस उठा। मगर दूसरे ही क्षण एक बड़ी कड़वी-सी मुस्कराहट उसके चेहरे पर खेल गयी : बेचारे...भूख के गुलाम !

उपेन्द्र जेल के फाटक पर पहुँचते ही फ़ौरन अन्दर कर लिया गया, इसलिए वह ज़्यादा कुछ देख नहीं सका। हाँ इतना उसने ज़रूर देखा कि इंसानों का यह कठघरा भी पीले रंग का है (शायद ये सभी कठघरे पीले रंग के होते हैं !)

जेल के दफ़्तर में भी इस नये आगंतुक के लिए बीसों रजिस्टर और फ़ाइलें खोली और मूँदी गयीं और इस सब में पूरे दो घंटे लगे, और उपेन्द्र पूरे वक़्त एक घिसी हुई बेंच पर बैठा उस धीमी मौत के कारखाने का कारोबार देखता रहा। पीली वर्दी के वार्डर दफ़्तर में आते-जाते रहे और उपेन्द्र हैरत करता रहा कि यहाँ की हर चीज़ पीली क्यों है। कहीं इन लोगों का ख़ून भी तो पीला नहीं है !

उपेन्द्र को अपने साथियों के बीच पहुँचने की बड़ी जल्दी थी और वहाँ ख़ाना-पूरी ही नहीं ख़त्म होने आती थी। उसने अपने आसपास बैठे हुए साहबान से तीन-चार बार काफ़ी झिड़की के स्वर में जल्दी करने के लिए कहा। झिड़की को नायब दारोगा और डिप्टी जेलर सभी ने कान दबाकर सुन लिया, मगर वह कारखाना अपनी उसी चींटी की चाल से चलता रहा। क़िस्सा कोताह जब वह दो घंटे बाद अपनी बारक की तरफ़, अपने साथियों

के पास चला तो उसकी ख़ुशी का ठिकाना नहीं था, जैसे वह उसकी इस नयी, कठघरे की जिन्दगी की शुरुआत नहीं उसका अन्त हो और वह फाटक के बाहर जा रहा हो। जब कि असलियत यह थी कि वह फाटक के बाहर नहीं, एक के बाद एक छः फाटकों के भीतर जा रहा था। उपेन्द्र ने सोचा कि जेल की भीतरी बनावट बिलकुल प्याज़ के गढ़न की होती है, एक परत छीलिये दूसरी परत हाजिर, एक फाटक खोलिये दूसरा फाटक तैयार, परत दर परत, फाटक दर फाटक।

शायद उपेन्द्र के फाटक के अन्दर दाखिल होते ही बारक के तमाम साथियों को, जो फाटक से इतनी दूर छः फाटकों के पीछे बन्द थे, किसी कम्युनिस्ट के आने की ख़बर लग चुकी थी। सब बड़ी बेचैनी से उसकी राह तक रहे थे : अब यह कौन पकड़कर आया।

बारक के साथियों में चार-पाँच उसकी पहचान के निकल आये जिन्होंने इतनी ज़ोर से उसे छाती से लगाया कि उसकी पसलियाँ चरमरा गयीं। फिर बाक़ी के दस साथियों से उसका परिचय कराया गया। फिर बाहर की ख़बर पाने के लिए सवालों की झड़ी शुरू हुई : फ़लाँ साथी कहाँ है ? फ़लाँ मोर्चे पर कैसा काम हो रहा है ? तुम्हारे ज़िले के कितने लोग जेल में हैं ? तुम्हारे यहाँ पार्टी की आर्थिक हालत कुछ सुधरी या वही पुराना लस्टम-पस्टम मामला ? तुम्हारे यहाँ होलटाइमर कितने हैं ? उन्हें कितना पार्टी वेज देते हो ? वग़ैरह वग़ैरह। इन सवाल जवाबों में दो घंटे का समय कब चोरों की तरह दबे पाँव आया और चला गया कुछ पता ही न चला।

इसी बीच खाना खाने के बाद फिर अभी बातचीत का सिलसिला चालू ही था जब कि एक घंटी बजी।

उपेन्द्र ने बशीर से पूछा—'यह घंटी काहे की है ?'

बशीर ने कहा—'यह दोपहर के आराम के खात्मे की घंटी है। यहाँ सब काम घंटियों से होता है, सुबह से लेकर रात दस बजे तक कोई न कोई घंटी घनघनाती रहती है...इसके लिए हमने कमरेड सीतलसिंह को घंटी मिनिस्टर मुक़र्रर किया है। इस घंटी के पीछे अच्छी चख रहती है, लोग दिन भर ही बेचारे घंटी मिनिस्टर को नोचते रहते हैं'...और बशीर मुसकराया। घुटी हुई चाँद के कमरेड सीतलसिंह वहीं खड़े थे। उपेन्द्र ने देखा कि इनके पास इतना काफ़ी गोश्त है कि अभी साल भर तो ये अपने आपको नुचवा ही सकते हैं। बड़े ही हँसमुख साथी थे सीतलसिंह। सब उनका मज़ाक़ भी बहुत बनाते थे, मगर दिल ही दिल में उनकी इज्ज़त भी बहुत करते थे।

उपेन्द्र का दिन हँसते-खेलते गुज़र गया और चूँकि पिछली रात उसे ठीक से नींद नहीं आयी थी, इसलिए आज वह जल्दी ही सो गया।

दो तीन दिन गुज़र गये। इन दो ही तीन दिनों में वहाँ की मस्तमौला फ़ौजी ज़िन्दगी उपेन्द्र के लहू मे घुलने लगी। उसे लगा जैसे यह उसका हमेशा का जाना पहचाना है, जैसे वह बहुत दिन ऐसी ज़िन्दगी बिता चुका है। जेल आने का यह उसका पहला ही मौक़ा था मगर यहाँ की हर चीज़ उसे परिचित सी लगी। जेल से डर उसे पहले भी नहीं लगता था लेकिन लड़ने-भिड़ने समेत वह ज़िन्दगी ऐसी मज़ेदार होगी, यह उसने नहीं सोचा था। जेल का मतलब उसने न जाने क्यों अकेलापन समझ रखा था और इसी चीज़ से उसे थोड़ा डर लगता था, लेकिन यहाँ आकर उसे पता चला कि अकेलापन तो कहीं नहीं है। पन्द्रह ऐसे साथियों के बीच जो तुम्हारी छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी तकलीफ़ और दर्द में हाथ बटाने को तैयार हैं, कोई अकेलापन महसूस कर भी कैसे सकता है, वहाँ कोई चाहे भी तो कैसे दुखी रहे। हाँ, यह ज़रूर है कि अभी उपेन्द्र को आये दो ही तीन दिन हुए हैं इसलिए उसे पता नहीं है कि कैसे जब रहते-रहते साल दो साल गुज़र जाते

हैं तो बातों का खजाना एकदम चुक जाता है और लोग जब एक दूसरे से मिलते हैं तो उन्हें लगता है कि वे आइने की अपनी ही शकल से मिल रहे हैं, कहीं कोई नयापन नहीं। बहरहाल अभी तो उपेन्द्र को अच्छा ही लगा।

उपेन्द्र स्वभाव से मिलनसार आदमी है इसलिए जल्दी ही वह मशक़्क़तियों से भी घुलमिल गया। उनमें सबसे अच्छा उसे लगता था रामदास जो उसका खाना पकाता था। दुबला, साँवला, मँझोले क़द का आदमी। क़त्ल के जुर्म में सज़ा काट रहा था, आठ साल काट चुका था, चार-पाँच साल और काटना था। बला का ईमानदार और स्वभाव में एक अजीब मिठास। बारक के सभी क़ैदी, उपेन्द्र के साथी, उस पर जान देते थे और रामदास भी उन पर जान देता था, यहाँ तक कि उपेन्द्र के साथियों ने जब जब भूख हड़ताल की तब तब एक तरह से रामदास की भी भूख हड़ताल ही हो गयी क्योंकि उससे मुँह में कौर नहीं दिया गया। पिछली भूख हड़ताल तो इकतीस दिन चली और कोई यक़ीन नहीं करेगा मगर यह बात सच है कि इन इकतीस दिनों में रामदास ने एक भी रोज़ भरपेट नहीं खाया मगर वह खाना खाये चाहे न खाये उसके चेहरे की वह सांवली मुसकराहट जिसके पीछे से उसके कुंद जैसे दांत चमकते थे, उससे अलग नहीं होती थी। वह एक अजीब भोलापन था जो उसके चेहरे पर और उसकी मुस्कराहट में रौशन होता था। उसकी ईमानदारी का यह हाल था कि उसके हाथ में मेस देकर सब लोग उधर से एकदम निश्चिंत हो गए थे। रामदास के हाथ में ढेरों गेहूँ-चावल, घी-मक्खन, अंडा डबल-रोटी-लाइमजूस, साग-सब्ज़ी सभी कुछ रहता था लेकिन कभी तोला भर चीज़ भी इधर से उधर नहीं हुई। स्वभाव से वह आदमी बिलकुल सच्चा साधु था और वैसा ही उसका आदर भी होता था। जेलर या सुपरिन्टेन्डेन्ट की भी हिम्मत नहीं थी कि उसे टेढ़ी आँख देख लें, उन्हें पता था कि उसके पीछे कितनी बड़ी ताक़त है।

दस ही बारह रोज में उपेन्द्र और रामदास की ख़ूब गहरी छनने लगी। उपेन्द्र अक्सर रामदास के पास, चौके में जा बैठता। फिर रामदास जाँघिया और आधी बाँह का कुर्ता पहने तरकारी काटता जाता या रोटी सेंकता जाता और उपेन्द्र से बात करता जाता। दोनों को इसमें बहुत सुख मिलता। रामदास स्वभाव से बड़बोला नहीं है, उल्टे कुछ जरूरत से ज्यादा शांत और गंभीर है। किसी से ज्यादा बात-वात वह नहीं करता, लेकिन उपेन्द्र से उसका दिल कुछ ऐसा मिल गया है कि उससे बात करते जैसे रामदास की जबान ही नहीं थकती। (इसकी कुछ वजह तो शायद यह है कि दोनों की बोली एक ही है—रामदास उपेन्द्र के गाँव से दस कोस दूर एक गाँव का रहनेवाला है।)

उपेन्द्र को पहले भी रामदास कुछ क़ातिल जैसा नहीं लगा था, क्योंकि क़ातिल की जो तसवीर उसके मन में थी उसके अनुसार तो रामदास को गठीले बदन का (चाहे लंबा चाहे ठिगना इसकी कोई क़ैद नहीं, मगर ठिगना हो तो ज्यादा ठीक!) काला भुजंग आदमी होना चाहिए था और उसकी आँख के पपोटे अंगारे की तरह लाल होने चाहिए थे। यहाँ तो यह एक ख़ासा कमजोर और दुबला-सा आदमी था और उसकी आँख की काली पुतलियों के आसपास का सारा आसमान बिलकुल नीला था, उस नीलाहट में एक भी लाल डोरा नहीं था। यह कैसा अजीब क़ातिल था, क़ातिल भी कहीं ऐसे होते हैं?! फिर तो उपेन्द्र रामदास के जितना ही ज्यादा क़रीब पहुँचता गया, उतना ही ज्यादा उसे अचंभा होता कि इस आदमी ने भला कैसे किसी आदमी का क़त्ल किया होगा...

मगर क़त्ल उसने किया है यह तो ख़ुद रामदास ने अपने मुँह से स्वीकार किया है। उपेन्द्र को बड़ा अचंभा सा महसूस होता रहता।

एक रोज़ शाम को उसने कोई रोमांचक कहानी सुनने की उम्मीद से सवाल पूछ ही तो दिया। जवाब में रामदास ने जो कुछ कहा उससे भी उपेन्द्र को वैसी ही निराशा हुई जैसी रामदास को देखकर हुई थी। रामदास ने सिर्फ़ इतना कहा: 'खेत की मेंड़ का झगड़ा था बाबू जी। बात बढ़ गयी। पट्टीदारों में लाठी चल गयी, एक आदमी हमारी तरफ मरा एक आदमी उनकी तरफ। संजोग की बात बाबूजी, उधर का आदमी मेरी लाठी से मरा...'

'इतने से क्या यह आदमी क़ातिल हो गया?' उपेन्द्र के मन ने शंका की और स्वयं ही जवाब दिया: नहीं, इस तरह के क़त्ल का जिम्मेदार किसी एक आदमी को ठहराना ठीक बात नहीं। गाँवों में ग़रीबी का जो हाल है, खेती-किसानी का जो हाल है, अशिक्षा का जो हाल है, उसमें ऐसी फ़ौजदारियाँ तो होंगी ही। उनके लिए इक्के-दुक्के आदमियों की गर्दन मारने से ये फ़ौजदारियाँ नहीं बंद होंगी, कभी नहीं बंद होंगी। उसके लिए तो भूमि-व्यवस्था में सुधार किये बिना काम नहीं चलेगा, ज़मींदारी बिला मुआवज़ा तोड़नी पड़ेगी, घर-घर पीछे ठीक से बँटवारा करके ज़मीन जोतने-वाले को देनी पड़ेगी, किसानों को पढ़ाना पड़ेगा, गुन-ढंग सिखाना पड़ेगा, देश-विदेश की बात बतलानी पड़ेगी—यह सब कुछ करना पड़ेगा तब कहीं जाकर यह मारकाट बन्द होगी। इसके लिए एक रामदास को या दस रामदास को चौदह साल की सज़ा देने से काम नहीं चलेगा।

मेस में ही एक दूसरा आदमी है, कालीचरन। काला लम्बा आदमी है। पचास-बावन साल का होने आया लेकिन अब भी रोज़ 'मेनहत'* किये बिना उसके पेट का पानी नहीं पचता। कसरत करते उसे छत्तीस साल हो गये मगर एक दिन का नाग़ा नहीं हुआ। कसरत के संग तर माल खाने को

* मेहनत—कसरत।

मिलना चाहिए तब शरीर बनता है। वह तो कालीचरन को मिला नहीं, लेकिन इधर बहुत दिनों से रूखा-सूखा खाकर भी जो उसने कसरत नहीं छोड़ी उससे इतना जरूर हुआ कि उसके शरीर की फुर्ती बनी रही और कोई रोग-दोख उसके पास नहीं फटका। अच्छे-अच्छे जवान भी उसके बराबर काम नहीं कर पाते और इसका कालीचरन को नाज है। और जब बुढ़ौती में यह हाल है तब भला चढ़ी जवानी में वह क्यों अपने सामने किसी को कुछ गिनता रहा होगा! उसका घर भी है मिर्ज़ापुर, शहरों में एक शहर, जहाँ के गुंडे और लठैत सारे हिन्दुस्तान में मशहूर हैं। कोई समय था कि काली-चरन भी मलाईदार बूटी छानकर, नाखूनी किनारे की धोती, पतला-सा मलमल का कुरता और चुन्नटदार दुपलिया टोपी लगाकर, अपने सर से ऊँची लाठी लेकर निकलता था। वह इसलिए नहीं कि कालीचरन गुंडा था बल्कि इसलिए कि उसे खाने-पीने का शौक़ था और तब उसे किसी चीज़ की कमी भी नहीं थी, लकड़ी का काम अच्छा जानता था, दिन में तीन-चार रुपया पीट ही लेता था, शादी-ब्याह कुछ किया नहीं, बाल-बच्चे हुए नहीं, सस्ती का ज़माना था, रुपये का बीस सेर गेहूँ बिकता था, मज़े ही मज़े थे।

ऐसे में कालीचरन भी मस्ती लेता था। उसकी यह मस्ती एक दारोग़ा साहब मुहम्मद हुसैन को फूटी आँख नहीं भाती थी। कालीचरन अपने सामने किसी को कुछ सेटता नहीं था, और क्यों सेटता, किसी के इलाक़े में बसा था कि किसी का दिया खाता था! दारोग़ा साहब होंगे तो अपने घर के, वह क्यों करे किसी साले को सलाम!

उधर दारोग़ा साहब भी कुछ कम कँड़े के आदमी नहीं थे, कोई कच्ची गोलियाँ तो खेले नहीं थे, इसी महकमे में उन्हें बीस साल हो गये थे जहाँ ऐसे 'मरदूवों की अक़ल ठिकाने लगाना' ही उनका काम था। उन्होंने भी अपनी मजलिस में एलान किया : साले को ऐसा फाँसूँगा कि याद करेगा किसी से पाला

पड़ा था, सारी सिट्टी पिट्टी गुम हो जायगी, यह छाती फुलाकर चलना और आँखें तरेरना सब घुस जायगा !

ग़रज़ उन्होंने अपने क़ौल को पूरा करने के लिए कालीचरन को झूठे झूठे मामलों में फँसाना शुरू किया। दारोग़ा साहब के हल्क़े में चोरी कहीं हो हथकड़ी कालीचरन के पड़ती, डाका कहीं पड़े बेड़ी कालीचरन के पड़ती, लड़की कोई भगाये तलाशी कालीचरन के घर होती, फ़ौजदारी कहीं हो इस्तग़ासा कालीचरन के नाम दायर होता।

एक दो बार तो कालीचरन चंगुल में आकर छूट गया। मगर एक बार उसे ऐसे ही एक झूठे मामले में सज़ा हो गयी, साल भर की। कालीचरन ख़ून का घूँट पीकर रह गया। अपना कोई बस नहीं था, लेकिन दिल ही दिल में उसने पक्का इरादा कर लिया कि छूटने पर अगर मैंने दारोग़ा-साहब का हाथ पांव तोड़कर बिठाल न दिया तो मैं दोग़ला मेरा बाप दोग़ला मेरी सात पीढ़ी दोग़ली।...

ग़रज़ छूटकर जो पहला काम उसने किया वह था दारोग़ा साहब की मरम्मत करना। संयोग से वह मिल भी गये अच्छे निरल्ले में, अपने घोड़े पर सवार कहीं से चले आ रहे थे, कालीचरन ने उन्हें छेंककर वह मार मारी वह मार मारी कि दारोग़ा साहब हफ़्तों हल्दी-चूना लगाते रहे।

उसके बाद तो फिर कालीचरन और दारोग़ा साहब में अच्छी लगी-बझी हो गयी।

और यही कालीचरन की कहानी है। पता नहीं उसने किस सिलसिले में एक रोज़ उपेन्द्र को बतलाया : 'बाबूजी, आपसे झूठ थोड़े ही बोलना है। दो बार तो मैं झूठ झूठ फंसाया गया, एकदम झूठ, मैंने कुछ भी नहीं किया था। पर उसके बाद मैंने अपने मन में कहा—बेटा, कुछ करो चाहे न करो,

पकड़े तो जाओगे ही, पुलिसवाले कभी छोड़ेंगे पीछा तुम्हारा ? तो फिर जब ऐसे भी मरन है और वैसे भी मरन तो वैसे ही मरन ठीक, जरा उसका भी रंग लिया जाय. . . उसके बाद से मैं बराबर यह काम कर रहा हूँ बाबूजी, और यह दसवीं बार मुझे सजा हुई है । अब आप समझ लीजिए, आपसे कुछ छिपाना थोड़े ही है ! . . .'

मामूली जुर्मों में सज़ायाफ़्ता क़ैदियों को, आवारों को, चोरों को, डकैतों को, सियासी नज़रबन्दों से यों बचाकर रखा जाता है जैसे सियासी नज़रबन्द कोई ताऊन हों । इसी वजह से उपेन्द्र ज्यादा क़ैदियों से नहीं मिल पाया । लेकिन जो लोग उसकी बारक में काम करने आते हैं या जिनसे यों ही अचानक उसकी मुलाक़ात हो जाती है, उन सबसे बात करने पर उपेन्द्र को बहुत कुछ एक ही तरह की बातें मालूम हुईं, पुलिस के जुल्म की, जोर-जबर्दस्ती की एक ही तसवीर सबकी कहानी में से निकलती थी । बसंतू सफ़ैया की बात का भी यही सारमर्म था ।

. .

बसंतू उस जात का है जो जात की जात ही जरायमपेशा क़रार दे दी गयी है, जिस जात पर हुकूमत का एक यही अकेला एहसान है कि उसने उन्हें 'जरायमपेशा' नाम दिया । बस । और किसी चीज की जरूरत ही क्या . . .

किसी माई के लाल को यह न सूझा कि उन्हें किसी दूसरे पेशे में लगाये जिसमें वे यह जुर्मों का पेशा छोड़ दें । बस जरायम-पेशा का साइन बोर्ड लगा दिया और छुट्टी । मगर इससे भला क्या बात बनती है । अच्छा, इससे अगर बात नहीं बनती तो लाओ हम उनमें से किसी के गले में आठनंबरी, किसी के गले में दसनंबरी, किसी के गले में ग्यारहनंबरी, तख़्ती लटकाये देते हैं—तबतो बनेगी बात! बात बन रही है तभी न जरायम-पेशा क़ौम अपनी जगह पर ज्यों की त्यों जमी हुई है, टस से मस नहीं होती, उनकी आबादी में या उनके पेशे में कहीं बाल बराबर भी फ़र्क़ नहीं आने

पाया है ! और जरूरत भी क्या है ! हुकूमत ने उन्हें जरायम-पेशा करार देकर उनसे हाथ धो ही लिये हैं। रह गये खुद जरायमपेशा——तो उनमें से कुछ तो नक़ब लगाने और डाका डालने का अपना पुराना धंधा चालू किये हैं और बाक़ी——उनकी जिन्दगी खामख़ा हलाक हो रही है। वे अपनी जिन्दगी का रंग ढंग बदलनाचाहते हैं, ऐसों ही की तादाद ज्यादाहै मगर कहीं से कोई सहारा न पाकर मजबूरन अपनी ज़िन्दगी के उस अँधेरे कुएँ में पड़े हुए हैं। हाँ इतना एहसान हुकूमत उनके साथ और भी करती है कि अगर कोई खुद ही उस अँधेरे कुएँ में से निकलने की कोशिश करता है तो हुकूमत उन्हें वापिस उसी कुएँ के अंदर ढकेल देती है। इस तरह के क़ानून बने हुए हैं जिनके चलते वे उभर सकते ही नहीं... और फिर पुलिस के सर्वशक्तिमान डंडे हैं जो उनका सर तोड़ने के लिए ख़ासे मजबूत हैं। लिहाजा जो एक मर्तबा उस बदनसीब क़ौम में पैदा हो गया, उसकी जिन्दगी में सूरज सदा के लिए डूब गया। जरायम-पेशा क़ौम का हर आदमी मुजरिम पैदा होता है, इसलिए जैसे ही उसके हाथ-पाँव चलने लगते हैं, उनमें आठनंबरी और दसनंबरी हथकड़ी-बेड़ी डालना जरूरी हो जाता है ! अब बसंतू को ही देखता है उपेन्द्र : उसमें कहीं कोई चोरी की प्रवृत्ति रत्ती भर उसे नजर नहीं आती मगर पुलिस है कि यह तीसरी बार उसने उसे चोर बनाकर जेल भेजा है। और बसंतू से उपेन्द्र को पता चलता है कि यह चीज अकेले बसंतू के साथ हुई हो, ऐसी बात नहीं है। यह तो पुलिस का रोज का धंधा है। बसंतू की क़ौम (जिसका मतलब उपेन्द्र सिर्फ़ जरायम-पेशा क़ौम नहीं, तमाम ग़रीब इंसानियत समझा) न हो तो पुलिस को अपने झूठे मुक़दमों के लिए बलि के बकरे कहाँ से मिलें ?! बसंतू की क़ौम न हो तो पुलिस का भीम पेट कैसे भरे ?!

उपेन्द्र जेल में जिस भी क़ैदी से बात करता है यानी कर पाता है उससे उसे

पुलिस के अन्याय और जुल्म की एक नयी कहानी सुनने को मिलती है।

*　　*　　*

उपेन्द्र को अभी जेल में आए कुछ महीने ही हुए थे कि उसकी हेबियस कारपस मंज़ूर हो गयी और वह छूट गया।

जिस दिन वह छूटा उसकेदूसरे ही रोज मैं उससे मिलने पहुँचा। उपेन्द्र बैठा अपनी किताबें और काग़जात ठीक कर रहा था। सदा से मेरी-उसकी दाँतकाटी रोटी रही है। मैं कम्युनिस्ट न सही मगर उससे क्या होता है। जेल? उपेन्द्र के जेल जाने से मेरी उसकी दोस्ती ख़त्म हो जायेगी? कैसी पागलों की-सी बातें करते हो? अपने विश्वासों के लिए जेल जाना कोई हल्की बात है? ख़ैर, उस बात को छोड़ो, मैं कह रहा था कि मेरी उसकी सदा से दाँतकाटी रोटी रही है। गले-वले मिलने के बाद मैं भी उसके संग बैठ कर उसकी किताबें और काग़ज़ात देखने लगा। उन्हीं में मुझे यह एक काग़ज मिला जो मैं उपेन्द्र की इजाजत से यहाँ दे रहा हूँ। उपेन्द्र की ख़्वाहिश है कि यह चीज छपे; लेकिन उसके भेजने से तो कोई कुलीन पत्र छापेगा नहीं क्योंकि--मगर यह भी क्या आपको बतलाना पड़ेगा? बहरहाल इसीलिए उसे मेरी शरण लेनी पड़ी। कहने लगा--कहानी लेखक हो इसे जरा एक नजर देख जाना तुम, कहीं सुधारने की जरूरत समझो तो सुधार देना। मैं तो लट्ठमार आदमी हूँ, साहित्य-वाहित्य कुछ समझता नहीं, ऊटपटाँग जो कुछ समझ में आता है लिख मारता हूँ।... और हाँ देखो तुम्हीं इसे भेज भी देना कहीं। मेरे भेजने से पता नहीं कोई छापे, न छापे। तुम्हारी बात और है। 'माया' में, 'आजकल' में, 'रानी' में, 'सरिता' में तुम्हारी कहानियाँ छपती हैं, तुम पर तो शक करने की गुंजाइश ही नहीं है...

हाँ तो यह रही वह चीज :

मुजरिम तुम हो !

'मैं यहाँ बहुत से क़ैदियों से मिला। कुछ से तो बाक़ायदा मिला और कुछ से चोरी छिपे मिलना पड़ा क्योंकि उनसे मिलने का क़ायदा नहीं है और क़ायदा इसीलिए नहीं है कि तुमजो उन्हें और हमें अपने कठघरेमें बंद रखते हो नहीं चाहते कि सियासी क़ैदी, जो तुम्हारे हथकंडों से अच्छी तरह वाक़िफ़ हैं, तुम्हारे पाप की पूरी गाथा सुनें, क्योंकि तुम्हारे नज़दीक सियासी क़ैदियों और मामूली क़ैदियों का संग, वैसा ही खतरनाक है, जैसा आग और अच्छी सूखी घास का संग, क्योंकि तुम्हें डर है कि इससे कहीं जेल में आग न लग जाय। मगर बेवक़ूफ़ो, आग जहाँ लगनी होती है लग ही जाती है : जंगल की आग को भी भला कोई रोक पाया है ?!

यहाँ मैंने जितने ही ज्यादा लोगों से बातें की है, उतना ही ज्यादा मेरा यह विश्वास पक्का हुआ है कि यहाँ जेल में वे ही लोग हैं जिन्हें यहाँ नहीं होना चाहिए, जिनकी बाहर मुल्क को जरूरत है और उनमें से एक भी आदमी यहाँ नहीं है जिन्हें यहाँ होना चाहिए, जिनके बाहर रहने से मुल्क की साँस-साँस को ख़तरा है।

यहाँ रामदास क़ैद है। लेकिन असल में क़ैद होना चाहिए उनको जो जमींदारी के खात्मे का कनस्तर पीटकर भी उसका खात्मा नहीं करते, जिन्होंने दो अरब रुपया मुआवज़े का लटका लगा दिया है (न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेंगी !), जिनके 'किसान राज' में किसानों को जमीन नहीं गोली मिलती है।

यहाँ कालीचरन और बजंरू सफ़ैरा और उन-जैसे और भी सैकड़ों लोग क़ैद है जिन्होंने कोई जुर्म नहीं किया है, जिन्हें या तो झूठे मुक़दमों में फँसाया

गया है या भूखों मार मार कर चोरी और डकैती का रास्ता पकड़ने पर मजबूर किया गया है।

असल मुजरिम है वह हुकूमत जो भूखे को खाना और नंगे को कपड़ा नहीं देती, जो अच्छे-भले लोगों को गुनाह का रास्ता लेने पर मजबूर करती है।

असल मुजरिम हैं इस मुजरिमाना हुकूमत की ज़ालिम पुलिस और उसके गुर्गे जो कि वक़्त के राजा हैं, जिनके आगे किसी की एक नहीं चलती, जो किसी पर भी सोंटा फटकार सकते हैं, जो किसी को भी अपनी हवालात में मुर्ग़ा बना सकते हैं, जिनके ख़िलाफ़ कहीं कोई सुनवायी नहीं होती क्योंकि नीचे से ऊपर तक उन्हीं का राज है।

खेत में मेंड़ डालते वक़्त, बात बात में बात बढ़ जाने से एक फ़ौजदारी हो जाती है और उसमें रामदास की लाठी से एक आदमी को ज्यादा चोट आ जाती है और वह मर जाता है। इसके लिए दौरा जज रामदास को फाँसी की सज़ा देता है जिसे हाईकोर्ट घटा कर चौदह साल की क़ैद बामशक़्क़त कर देती है। अब ज़रा पता लगाओ कि अगर भूल से भी एक आदमी की जान लेने की इतनी सज़ा होती है तो उन लीडरों को क्या सज़ा मिलनी चाहिए जिन्होंने सात समुंदर पार के ठगों से मिल कर, सब कुछ जान-समझ कर इस देश का बँटवारा किया यानी पूरे देश में मेंड़ें डालीं, जिसके पीछे लाखों लोगों की जानें गयीं, लाखों औरतों की आबरू भी गयी जान भी गयी, लाखों बच्चे अनाथ हुए, करोड़ों लोगों के घर-बार उजड़े, करोड़ों लोगों का वतन छूटा?!! . . . ज़रा गुणा करके देखो, जवाब मिल जायगा!'

बात तो उपेन्द्र ने ज़रा कड़ी कह दी है मगर ग़लत नहीं कही।

'. . .तो आपने इन क़ौम का खाना यानी बच्चों की हँसी और बेकस औरतों की अस्मत और करोड़ों इन्सानों की ज़िन्दगी का मामूली-सा चैन और सुकून चुरानेवाले, आदमी की सूरत-शक्ल के लकड़बग्घों में से कुछ को फांसी पर लटका दिया होता. . .'

दुर्भित्त मंत्री कथाकार मुंशी के नाम

महोदय,

आपकी मेज़ आनेवाले ख़तों के बोझ से यों ही कराहती रहती होगी। मगर तब भी जब मैंने उसकी और आपकी मुसीबत मे इज़ाफ़ा करने का निश्चय किया तो इसकी भी कुछ वजह होगी ही। और है। वह वजह यह है कि मेरा ख़त आपके पास आने वाले ख़तों के पुलिन्दे से बिलकुल अलग है। यानी जहाँ दूसरे ख़त तेल की तरह चिकनी-चिकनी ख़ुशामद से भरे होते हैं वहाँ मेरा ख़त आपसे कुछ सीधी-सच्ची और तल्ख़ बातें कहने के लिए भेजा जा रहा है, जहाँ दूसरे ख़त लिखने वाले आपसे एक या दूसरी चीज़ की उम्मीद लगाये रहते हैं वहाँ मुझे आपसे किसी चीज़की यहाँ तक कि इस ख़त के जवाब की भी उम्मीद नहीं है, जहाँ दूसरे ख़त लिखने वालों की नज़रें आपके क़दमों पर बिछी रहती हैं वहाँ मैं आपकी आँखों में आँखें गड़ा कर चन्द बातें करना चाहता हूँ जो मुमकिन है आपको नागवार भी गुज़रें। गुज़रें तो गुज़रें। ...और ख़ुद आपने भी तो अपने किसी उपन्यास में ऐसे एक पात्र का चित्र खींचा है जो राजसत्ता के रक्तचक्षु देखकर कभी अपने रास्ते से सूत बराबर इधर उधर नहीं हुआ चाहे फिर इसके पीछे उसे हाथी के पैरों तले रौंदवा ही क्यों न दिया गया...

हाँ, तो यह ख़त मैं आपको ख़ास तौर पर एक लेखक होने के नाते लिख रहा हूँ। मुमकिन है इसे आप मेरी गुस्ताख़ी समझें क्योंकि एक तो मैं

बहुत ही छोटा, गुमनाम सा लेखक हूँ, दूसरे प्रगतिशील लेखक हूँ ! मगर हूँ मैं भी एक लेखक। माना कि आप नामी-गरामी लेखक हैं और मैं एक अदना सा कलमघिसोड़। मगर उससे क्या। इस तरह का फ़र्क़ अगर हम लोग आपस में करने लग जायेंगे, तब तो मेरा आपको ख़त लिख सकना ही असंभव हो जायगा क्योंकि उस तरह से विचार करने पर तो मुझमें आपमें कोई चीज़ एक-सी मिलती ही नहीं, यहाँ तक कि साहित्य का मतलब भी हम दोनों दो तरह से लगाते हैं। आपकी क़लम मार्फिया का इंजेक्शन देने वाली सुई है जिससे आप अपने पढ़ने वालों को सुलाये रखना चाहते हैं। मेरी कलम लोगों को जगाने के काम में आती है।

इतना ही नहीं, आप उस हिंदुस्तान के बारे में लिखना पसंद करते हैं जो कि कभी था और अब नहीं है, जोकि सैकड़ों साल हुए मर चुका, जिसे अब कोई जिला नहीं सकता। आपकी तो हस्ती ही क्या उसे अब विधाता भी नहीं जिला सकता। आप चाहते हैं कि आपके पढ़ने वाले उसी मुर्दा हिन्दुस्तान को ताकते बैठे रहें, उसी में सांस लें, उसी के सपने देखें। शायद अतीत की ओर आँख लगाये बैठे रहने को ही आप और आपके भाटगण जागना कहते हैं। आपके नजदीक शायद आँख का खुला रहना ही जागने की अकेली अलामत है, मगर क्या आपको इस बात का पता नहीं कि बहुत से लोगों की आँखें नींद में भी खुली रहती हैं ! जी हाँ, उनकी आँखें खुली रहती हैं और वह सपना देखा करते हैं। मैं उसे भी नींद की कई क़िस्मों में से एक भयानक क़िस्म समझता हूँ, एक ऐसी नींद जिसमें असली नींद की ताजगी भी नहीं है बल्कि है नींद न आने की ऊब और थकन और पलकों का भारी हो जाना। आपका साहित्य ऐसी ही नींद का चूर्ण है।

मैं ऐसे साहित्य का दुश्मन हूँ। मैं आज के हिंदुस्तान के बारे में लिखना अपना फ़र्ज़ समझता हूँ, मरे हुए कल के हिंदुस्तान के बारे में नहीं, आज के

हिंदुस्तान के बारे में जिसमे भूख है और अकाल है और लोग नंगे हैं और उनके सिरों पर सिर्फ़ आसमान का एक छप्पर है, उन्हीं की तरह नंगा और सर्दी से नीला। मैं जानता हूँ कि आप ऐसे साहित्य को जिससे अफ़ीम का काम नहीं लिया जा सकता, प्रचार कहकर बदनाम करते हैं। मगर आप उसे चाहे जितना बदनाम कीजिये, मुझे उससे डर नहीं लगता। मुंशीजी, पंचतन्त्र की कहानियों का ज़माना लद गया जब तीन धूर्तों के बहकावे में आकर मित्रशर्मा नामके मूर्ख ब्राह्मण ने अपने हाथ के अच्छे मोटे-ताज़े बकरे को गधा समझकर फेंक दिया था! मित्रशर्मा होने का मेरा कोई दावा नहीं है, इसलिए मैं आज के हिंदुस्तान के बारे में लिखता हूँ जिसमें लोग दाने दाने को तरस रहे हैं और लिखता हूँ उस आने वाले कल के बारे में जिसमें लोग दाने दाने को नहीं तरसेंगे, जिसमें वे गेहूँ बोयेंगे और मोती उगायेंगे और जिसमें लोगों को तड़पा तड़पा कर मारनेवाले हत्यारे मुनाफ़ाखोर बगुले के पर के समान सफ़ेद खद्दर का कुर्त्ता-धोती और गांधी टोपी लगाकर मुँह में पान या चुरुट दबाकर मूछों पर ताव देते हुए असेम्बली के गलियारों में नहीं घूमेंगे बल्कि फांसी पर टंगे हुए दिखाई देंगे और उनकी लंबी, लालची, ग़रीबों का ख़ून टपकाती हुई जीभ मरे हुए कुत्ते की जीभ की तरह बाहर को लटक रही होगी। वह दिन अब ज्यादा दूर नहीं है। बनारस और कानपुर और मथुरा और उन्नाव और चंद और शहरों की अंग्रेज़ी हिज्जे बदलकर आप लोगों ने अपनी समझ में जो आख़िरी क्रांति कर दी है उतने से मेरे इस नादान मन को तसकीन नहीं होता। न ही उसको तसकीन इस बात से होता है कि पटना का नाम बदलकर पाटलिपुत्र कर दिया जाय या किसी जगह का नाम बदलकर विंध्य प्रदेश या मत्स्य प्रदेश कर दिया जाय--प्राचीन इतिहास से उठाये गये ये नाम आज के इतिहास का जवाब नहीं दे सकते, लोगों को एक गज़ मारकीन या रोटी का एक टुकड़ा नहीं दे सकते। अच्छा हो कि ये भरे पेट के चोंचले आप लोग अपने आप तक ही

रक्खा करे। अजी हज़रत, लोगों को रोटी चाहिए, घी चाहिए, तेल चाहिए, शकर चाहिए, नमक चाहिए, किरासन चाहिए। देखिये अभी फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति को ज्यादा समय नहीं हुआ है। उसके सबक़ को भूलिये मत वरना फिर बिफरी हुई जनता को दोष मत दीजियेगा अगर वह आपको मारी आँत्वानेत का भारतीय, पुरुष संस्करण समझ ले ! आप तो बहुत पढ़े लिखे आदमी हैं, आपको मालूम ही होगा कि जब भूख के कोड़ों की मार सहते-सहते फ्रांसीसी जनता से न रहा गया तो उसने बग़ावत कर दी और अपने राजाका महल घेर लिया। जब बहुत शोर मचने लगा तो उसकी ज़रासी भनक महल के अन्दर फ्रेंच महारानी मारी आँत्वानेत के कान में भी पड़ी। उसने अपने दरबारियों से पूछा--यह कैसा शोर हो रहा है ? दरबारियों ने कुछ डरते डरते कहा--मलका, ये लोग भूखे हैं, इन्हें रोटी चाहिये। इस पर मलका ने बला की सादगी से कहा--इन्हें अगर रोटी नहीं मिलती तो ये लोग केक क्यों नहीं खाते ?....

इससे कुछ ज्यादा अच्छा हालआपका नहीं है मुंशीजी। सारा हिंदुस्तान भूखसे बेहाल है, सारा मुल्क आधा पेट और चौथाई पेट खा रहा है और कई जगहें ऐसी भी हैं जहाँ यह आध पेट और चौथाई पेट खाना भी लोगों को मयस्सर नहीं है, जहाँ लोग पत्तियाँ और पेड़ की छाल और घास खाकर जी रहे हैं, जहाँ अब आदमी और गाय-बैल में कोई फ़र्क नहीं है, जहाँ आपने अपनी अतीतमुखी कल्पना को बिलकुल सच करके दिखा दिया है और आदमी अपनी प्राचीनतम आदिम स्थिति पर पहुँच गया है, खान-पान, वेश-भूषा सब में वही गुहा कंदरावासी मानव ! इन जगहों पर लोग सैकड़ों की तादाद में सचमुच भूखों मर रहे हैं (आपको पता है भूख से मरना कैसा होता है!), माँएं अपने कलेजे के टुकड़ों को लेकर कुएं में कूद रही हैं क्योंकि उनसे अब अपने लालों का तड़पना नहीं देखा जाता, मर्द और औरत रेल की पटरियों

के नीचे आ रहे हैं क्योंकि रोज़ रोज़ की भूख की तकलीफ़ के सामने वह एक बार की मौत भी शायद नजात से कम नहीं।

मेरे एक दोस्त आये, कहने लगे, वह लोग कमज़ोर धात के बने हैं जो ऐसे जान देते हैं। मैंने कहा : भाईजान, बात करना आसान है। किसी भी तरह से जान देने के लिए बहुत मज़बूत धात की ज़रूरत पड़ती है। कोई यों ही नहीं जान दिया करता। कोई माँ यों ही अपने बच्चे का गला नहीं घोंट देती ....आपके भी तो बच्चे हैं मुंशीजी, आपही बतलाइये मैंने क्या झूठ कहा ? ...मगर नहीं आपसे तो मेरा यह सवाल करना ही ग़लत है क्योंकि आप तो यही नहीं मानते कि भूख कहीं है भी। अख़बार चिल्ला रहे हैं, जनता के अन्दर काम करनेवाले लोग गला फाड़ रहे हैं कि सहरसा में, पूर्णिया में, ख़ानदेश में, कोचीन मे, अंग में, बंग में, ख़ुद आपके सौराष्ट्र मे लोग भूख से मर रहे हैं, सब आपको उनका नाम बतलाते हैं पता बतलाते हैं, उनकी फ़ेहरिस्तें आपको देते हैं, ख़ुद आपकी हुकूमत के लोग इस हक़ीक़त को मानने पर मजबूर हैं मगर आप हैं कि सबके बाद भी अपना वही बेसुरा राग अलापे जा रहे हैं। दाद देनी पड़ती है उन लोगों की जिन्होंने आप को खाद्यमन्त्री बनाया क्योंकि जिस मुल्क में अकाल का राक्षस सब को चबाता और निगलता हुआ आज़ादी के साथ घूम रहा हो, उस मुल्क को ऐसे ही खाद्यमन्त्री की ज़रूरत थी जिसकी खाल गैंडे की खाल से टक्कर लेती हो, जिसकी आँखों पर ऐसा ही हज़ार हज़ार टाटों का मोटा पर्दा पड़ा हो, जिसके कान ऐसे ही बहरे हों ! आपमें ये सभी गुण हैं इसीलिए आप इस आग की तरह जलती हुई सच्चाई से बड़े इत्मीनान के साथ मुँह फेर कर अपने बर्फ़ की तरह सर्द अल्फ़ाज़ में फ़रमा सकते हैं कि भूख कहीं नहीं है, एक आदमी भी भूख से नहीं मरा है, सब गप्प है, बातें नमक-मिर्च लगाकर कही जा रही हैं !

वाह रे मेरे हिंदुस्तानी नीरो, बहुत बजा है आपका फ़रमाना। जिसका पेट अच्छे अच्छे तर माल से भरा है उसे सदा दूसरे की भूख की बात गप्प मालूम होती है,यह आपका ही नहीं सारी दुनिया का दस्तूर है और आज से नहीं उस वैदिक काल से है जिसके बारे में आप अच्छी तरह जानते है पर पता नहीं क्यों, लोग आपसे सहृदयता की उम्मीद करते है। शायद इसलिए कि आप साहित्यकार है और साहित्यकार के बारे में यह एक कवि-प्रसिद्धि है कि वह एक सहृदय भावुक प्राणी होता है। मालूम नहीं, हो सकता है ऐसी ही बात होती हो! मगर जब मैं आपकी तरफ़ देखता हूँ तो मुझेयह बात सही नहीं मालूम होती। क्योंकि अगर ऐसी बात होती, अगर आपमें एक तोला भर भी वह गुण होता जिसे इन्सानियत कहते है, वह दूसरे का दुःख देखकर दिल का अनायास भर आना तो या तो आपने इन क़ौम का खाना यानी बच्चों की हँसी और बेकस औरतों की अस्मत और करोड़ों इन्सानों की जिंदगी का मामूली सा चैन और सुकून चुराने वाले, आदमी की सूरत-शकल के लकड़बग्घों में से कुछ को फांसी पर लटका दिया होता ताकि बाक़ियों को नसीहत होती या अपनी उस मनहूस गद्दी से अपना पीछा छुड़ा लिया होता या कम से कम, भूख से मरनेवालों की पथरायी हुई आँखों में आँख डालकर एक बार अपनी लानत की कहानी तो पढ़ी होती या अगर यह सब कुछ नहीं तो लाशों के अंबार पर खड़े होकर भूख और मौत की नंगी असलियत से इनकार करने के पहले चुल्लूभर पानी में डूब मरे होते ....मगर यह सब आपने कुछ नहीं किया। आपने सिर्फ़ बयान दिया।

ठीक है, आपका बयान नोट कर लिया गया है। जो मर गये उनका ज़िक्र छोड़िये, वह मर गये। मगर जो अभी नहीं मरे उन्होंने आपका बयान भूख की अनी से अपने सीने पर नक्श कर लिया है और वक़्त आने पर इतिहास उसे खोलकर पढ़ लेगा। उस वक़्त, मुमकिन है वह आपसे जवाब तलब

करे। आप कहेंगे : करे न जवाब तलब। मुझे उसका ग़म नहीं है। मैंने देश भर में वन महोत्सव मनाया है। मैंने देश भर में एक करोड़ पेड़ लगवाये हैं। वह सब क्यों ? खाने की समस्या को हल करने ही के लिए तो--

यह आपने सोलह आने सच्ची बात कही। मगर इसका मतलब यह है गुरू कि तुम हमसे चाहे इस बात को छिपाओ लेकिन मालूम तुमको भी है कि सहरसा में और पूर्णिया में और अहमदनगर में लोग पत्ती खाकर जी रहे हैं ! तभी तो यह वन महोत्सव ! अच्छा है अब देश में लाखों-लाख पेड़ हो जायेंगे और लोगों की खाने की समस्या हमेशा के लिए हल हो जायेगी। भाइयो, अपने आंगन में, अपने घर के सामने खूब पेड़ लगाओ, पूरे जोश के साथ वन महोत्सव में शरीक हो, यह तुम किसी और के नहीं खुद अपने खाने का सामान कर रहे हो ?